चिरन्तन मानव की वेदतत्त्वानुगता सहास्तित्वकामना—

अग्नि प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात्—
सोमो रुद्रेभिरभिरक्षतु त्मना ।
इन्द्रो मरुद्भिर्ऋतुधा कृणोतु—
आदित्यैर्नो वरुणः सं शिशातु ॥१॥

सं नो देवो वसुभिरग्नि—
सं सोमस्तनूभी रुद्रियाभि ।
समिन्द्रो मरुद्भिर्यज्ञियै —
समादित्यैर्नो वरुणो अजिज्ञपत् ॥२॥

यथादित्या वसुभिः संबभूवु—
मरुद्भी रुद्राः समजानताभि ।
एवा त्रिणामन्नहृणीयमाना—
विश्वेदेवा समनसो भवन्तु ॥
—चिरन्तनसूक्त्यः

—•—

लेखक—मोतीलालशर्म्मा भारद्वाज
प्रकाशक—राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान जयपुर
मुद्रक—श्री बालचन्द्रयन्त्रालय दुर्गापुरा (जयपुर)

(मूल्य ८)

श्री

वेद का स्वरूपविचार

(अपौरुषेय–शाब्दिक–वेद के सम्बन्ध में एक स्वतन्त्र चिन्तन)

[लेखक—मोतीलालशर्म्मा-वेदवीथीपथिक-
मानवाश्रम-दुर्गापुरा, (जयपुर)]

प्रकाशक-श्रीराजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान-
मानवाश्रम दुर्गापुरा जयपुर

मुद्रक—श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम
दुर्गापुरा, जयपुर

प्रथमबार१००० प्रति

मूल्य २)

तात्त्विक वेद का माङ्गलिक संस्मरण

ऋचां प्राची महती दिगुच्यते—
दक्षिणामाहुर्यजुषामपाराम् ।
अथर्वणामङ्गिरसां प्रतीची—
साम्नामुदीची महती दिगुच्यते ॥१॥
ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते—
यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः ।
सामवेदेनास्तमये महीयते—
वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः ॥२॥
ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः—
सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् ।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्—
सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥३॥

—तैत्तिरीयब्राह्मण १२।९।१, २।

—❀—

राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान–मानवाश्रमानुबन्धि–ज्ञानसत्त्रानुगत किञ्चिदिव-प्रावेदनम्

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान'-मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर) में विगत वर्ष से 'षाण्मासिक-ज्ञानसत्रों' का अनुष्ठान प्रक्रान्त है। जिसमें सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी संस्कृतिनिष्ठ माननीय डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल महाभाग की विशेष प्रेरणा से तत्तत्प्रान्तों के वेदनिष्ठ अनेक विद्वान् भी समय समय पर पधारते रहे हैं। प्रथम ज्ञानसत्र में अन्यान्य विषयों के प्रस्ताव-विमर्श के साथ सहसा 'वेद का स्वरूप-विचार' नामक प्रश्न को लेकर कई एक प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित हुए, जिनका यथाशक्य समाधान करने की चेष्टा हुई।

मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र भारतवर्ष का मौलिक निधि है इसमें कोई सन्देह नहीं। भारतजाति का समस्त आचारकलाप-धर्म, ज्ञान उपासना, विज्ञान दर्शननीति समाजनीति राष्ट्रनीति अन्तर्राष्ट्रीयनीति, आदि आदि सभी कुछ इस मौलिक साहित्य के मौलिक तत्त्वों के आधार पर ही व्यवस्थित हैं। यह सबकुछ होने पर भी विगत कई एक शताब्दियों से वेदार्थ के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के ऊहापोह, अनेक प्रकार की समस्यायें हमारे सम्मुख उपस्थित होती रहीं हैं। विगत शताब्दियों में वेद के जितने भी भाष्यकार भारतीय प्रज्ञा के सम्मुख

व्यवस्थापकों ने अनेक बार इस सम्बन्ध में कुछ लेखन का हमसे आग्रह किया। निरन्तर एक वर्ष तक इस सम्बन्ध में अपने आपको असमर्थ पाते हुए हम उन्हें सन्तुष्ट न कर सके। किन्तु उनके धाराबाहिकरूप से प्रकान्त आग्रह के कारण अन्ततोगत्वा 'वेद का स्वरूप विचार' इस विषय को लेकर सम्भवतः हमें दो-तीन वक्तृतायें वहाँ देनी पड़ीं।

डॉ० वासुदेवशरण महाभाग की ऐसी इच्छा थी कि, "हम इस विषय का एक स्वतन्त्र वक्तव्यरूप से संकलन कर लें एवं सर्वसाधारण के सामने वेद का स्वरूप-परिचय इस दृष्टि से उपस्थित कर दें कि, वेद के स्वरूप के सम्बन्ध में जो आज नए प्रकार के विविध प्रकार के ऊहापोह प्रक्रान्त हैं उनके प्रति भारतीय प्रजायें जागरूक बन कर किसी तथ्य का अन्वेषण करें, और अपने सर्वस्वभूत इस मौलिक वैदिक साहित्य के अध्ययनाध्यापन में प्रवृत्त हों। एकमात्र इसी उद्देश्य से आकाशवाणी (जयपुर के केन्द्र) में प्रसारित उन वक्तव्यों का संक्षिप्त स्वरूप-परिचय 'वेद का स्वरूप-परिचय' नाम से रेकार्ड किया गया, वही वेदप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है। अस्तताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्॥

विनेय—

मिती–माघशुक्लपञ्चमी
वि॰ सं॰ २०१

मोतीलाल शर्म्मा
आङ्गिरसो भारद्वाज वेदवीथी-पथिक
मानवाश्रम-दुर्गापुरा (जयपुर)
राजस्थान

श्री

वेद का स्वरूप-विचार

नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ॥
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥१॥

—ऋक्संहिता १०।११२।९।

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः, एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः ॥
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति, “एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥२॥

—ऋक्संहिता ८।५८।२।

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः, पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥३॥

—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।८।४।

वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माता, अमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥४॥

—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।८।५

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ॥
तं ह देव–‘मात्मबुद्धिप्रकाशं’ मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥५॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१८

अग्निर्जागार-तमृचः कामयन्ते ।
अग्निर्जागार-तमु सामानि यन्ति ॥
अग्निर्जागार-तमयं सोम आह–
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥६॥

—ऋक्संहिता ५।४४।१५।

ॐ

वेद का स्वरूप-विचार

नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ॥
न ऋते त्वत् क्रियते किं चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥१॥
—ऋक्संहिता १०।११२।९

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः ॥
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥२॥
—ऋक्संहिता ८।५८।२

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः, पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥३॥
—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।८।४

वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माता, अमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥४॥
—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।८।५

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ॥
तं ह देव-'मात्मबुद्धिप्रकाशं' मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥५॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१८

अग्निर्जागार-तमृचः कामयन्ते ।
अग्निर्जागार-तमु सामानि यन्ति ॥
अग्निर्जागार-तमयं सोम आह-
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥६॥
—ऋक्संहिता ५।४४।१५

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत् ॥
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥
—ऋक्संहिता १०।११४।८

प्राक्कर्म्मोदयतो हि यस्य मिथिलादेशे शरीरोदयः ।
श्रीमिश्रमेशदयोदयाच्च समभूत् काश्यां सुमित्रोदयः ॥
राज्ञा प्रीत्युदयादभूज्जयपुरे सम्पत्तिमाम्योदय ।
सिद्धस्वन्मधुसूदनाय गुरवे नित्यं प्रणामोदय ॥८॥

यत्र प्रदस्या विषया पुरातना यत्र प्रकारोऽभिनवः प्रदर्शने ॥
यत्र प्रमाणं श्रुतयः सयुक्तयस्तत् ब्रह्मविज्ञानमिदं विमृश्यताम् ॥
—श्रीगुरुचरणमूर्तिः

चराचर जगत् के अधिष्ठाता औपनिषद पुरुष की प्राप्ति के अनेक उपायों शास्त्रों में उपवर्णित हैं। वे ही उपाय अधिकारी वर्ग के भेद से शास्त्रों में क्रम कर्म्म, भक्ति, योग ज्ञान उपासना आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हैं। शुद्ध कर्म्म कर्म्ममार्ग है शुद्ध ज्ञानमार्ग ज्ञानमार्ग है। ज्ञानयुक्त कर्म्ममार्ग भक्तिमार्ग है कर्म्मयुक्त ज्ञानमार्ग योगमार्ग है। इस योगमार्ग के राजयोग मन्त्रयोग, हठयोग लययोग आदि अनेक अवान्तर विभेद हैं। विविध भावापन्न योग के किसी मार्ग के आश्रय से आरुरुक्षु योगी सिद्धावस्था को प्राप्त होता हुआ उस औपनिषद पुरुष के साथ क्रमशः सालोक्य, सामीप्य सारूप्य भाव को प्राप्त करता हुआ अन्ततः सायुज्यभाव का अधिकारी बन जाया करता है।

इस वेदान्तपुरुष में अपने जीवात्मा को समर्पित कर देने वाला योगी 'वैदर्षि' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। आज वेदान्तपुरुष से तन्मय रहने वाले वेदान्तपुरुष से अभिन्न (ऐसा) वैदिकभेद उसी ब्रह्म की महती विभूति वेद को एक बना कर 'वेद का स्वरूप विचार' इस (विराट) माध्यम से वैदिक प्रकार

जिज्ञासु महामाया महानुभावों के सम्मुख वेद के सम्बन्ध में (हम) दो शब्द निवेदन करेंगे।

'वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ'–'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः'–'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'–'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति'–ये हैं विदितवेदितव्य, अधिगतयाथातथ्य आप्त महामहर्षियों की वेदराशि के प्रति श्रद्धाञ्जलियाँ। क्या सचमुच वेदपुरुष का ऐसा उच्च आसन है?, क्या सचमुच सम्पूर्ण धर्मों की आश्रयभूमि वेद है?, क्या वेद से ही सब कुछ सिद्ध हुआ है?, इन सब प्रश्नों का यथार्थ समाधान तब तक कदापि सम्भव नहीं है, जब तक कि वेद के वास्तविक स्वरूप को हृदयङ्गम नहीं कर लिया जाता। जो वेद के वास्तविक तात्त्विक स्वरूप को नहीं जानता, इसकी मौलिक परिभाषाओं के साथ अपनी प्रज्ञा का समन्वय नहीं कर लेता, हमारी धारणा है कि 'न स वेद, न स वेद'। अर्थात् उसने वेद के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जाना, कुछ भी नहीं जाना। ज्ञान ही तो वेद का स्वरूप है। वेद ही तो ज्ञान है। जब वेद का तात्पर्य विदित नहीं, तो ज्ञान कैसा? ज्ञान नहीं, तो अज्ञान का विनाश कैसा?। हमारा यह काल्पनिक अनुमानमात्र ही नहीं, अपितु ध्रुव निश्चय है कि, आज भारतीय आर्यजाति की जो दयनीया दुरवस्था हो रही है उसके अन्यान्य कारणों में से इस वैदिक साहित्य के प्रचार का अभाव भी एक कारण माना जा सकता है। 'ब्राह्मणेन निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' क्या इस अनुशासन का आज हमारी दृष्टि में कोई मूल्य रह गया है? क्या—

> योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
> स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय ॥

इस मन्वादेश का हम कुछ मूल्य समझ रहे हैं?। नहीं, सर्वथा नहीं। व्याकरण–न्याय–ज्योतिष–साहित्य–दर्शन आदि इतर शास्त्रों का आज सर्वत्र सम्मान है। मानों व्यवस्थास्थ ही आज सम्राट् बने हुए हैं। वेदसम्राट् वेदसम्राट् तो आज सम्मानभागी का भी अधिकारी नहीं रह गया है। वेद आज विद्वानों की दृष्टि में केवल अर्चनीय प्रतिमा बना हुआ है। वेद में क्या है? वेद को आप्त पुरुषों

भाग वेदान्त नाम से प्रसिद्ध हुआ है। प्रसिद्ध उपनिषद् के वेदान्त व्यवहार का कारण और माना जा सकता है। विधिस्वरूप कर्मकाण्ड के प्रतिपादक ब्राह्मण में जिन विधियों का उल्लेख है उनका समन्वय करना साधारण मनुष्यों के लिए कठिन है। कितने ही विधिवचन एक दूसरे से विरुद्ध प्रतीत होते हैं। इनका समन्वय करने के लिये 'पूर्वमीमांसा' का आविर्भाव हुआ। द्वादशलक्षणी से प्रसिद्ध 'पूर्वमीमांसा' नामक दर्शन वेद के विधिभाग का यथावत् समन्वय करता वही अवस्था उपासनाप्रतिपादक आरण्यक भाग की है। इसके समन्वय के लिये 'शाण्डिल्यदर्शन' का जन्म हुआ है। एवं ज्ञानकाण्डप्रतिपादक तीसरे उपनिषद् भाग के समन्वय के लिये 'उत्तरमीमांसा' नाम से प्रसिद्ध वेदान्तदर्शन का आविर्भाव हुआ है। वेदादेश का चरम लक्ष्य ज्ञानप्राप्ति है। अतः ज्ञान ही वेदान्त उसी की उपनिषदों में प्रधानता है। इसलिये उपनिषदों को भी वेदान्त शब्द से व्यवहृत करना न्यायप्राप्त है। इसप्रकार पूर्वमीमांसा (जैमिनिदर्शन) मध्यमीमांसा (शाण्डिल्यदर्शन), एवं उत्तरमीमांसा (व्यासदर्शन), इन तीनों दर्शनों से क्रमशः कर्मप्रधान ब्राह्मण, उपासनाप्रधान आरण्यक एवं ज्ञानप्रधान उपनिषद्–रूप से युक्त भाग–पशु–काम–अधर्म भिन्न–भिन्न वेदचतुष्टयी आर्यसन्तान की मर्यादा है। इतर शास्त्रों के आदेशों पर आर्यसन्तान ऊहापोह कर सकती है। ५

● 'मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदपुरुष के आदेश पर न इसे कभी संदेह हुआ न भविष्य में होगा। कहना न होगा कि, आर्यजाति की दृष्टि में वेद अपौरुषेय है। वह ईश्वर की वाणी है। ईश्वर का निःश्वास है। ईश्वर साक्षात् वेदमूर्ति है। हम अज्ञात् महानुभावों से निवेदन कर देना चाहते हैं कि वेद के उपर्युक्त स्वरूप वास्तव में यद्यपि हम भी सहमत हैं। तथापि विचारपूर्वक श्रद्धा करना श्रेयस्कर माना गया है। क्योंकि तत्त्वशून्या गतानुगतिका श्रद्धा अन्तःकरण मानव लिए हानिकर ही देखी देखी गई है। हम इन श्रद्धालुओं से वेद के स्वरूप तथा निम्नलिखित प्रश्न करने की धृष्टता कर सकते हैं।

● मन्त्रभागवत् ब्राह्मणभाग (ब्राह्मण आरण्यक-उपनिषद्) भी श्रुति ही वेद है इस विषय का विशद विवेचन उपनिषद्भाष्यभूमिका के 'क्या उपनिषद् वेद है।' इस प्रकरण में द्रष्टव्य है।

१—यदि उपलब्ध संहिता—ब्राह्मणात्मक पुस्तकरूप में उपलब्ध अक्षर-अक्षर-परानुपूर्वी से अविच्छिन्न शब्दात्मक वेद ही अपौरुषेय एवं नित्य है, तो 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' वैशेषिक दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले इस कणाद सिद्धान्त का क्या महत्त्व है ?।

२—पुस्तकात्मक वेद ही यदि नित्य, एवं अकृतक हैं तो—

'शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः' ॥ (मनु)

इस मानवीय वचन का क्या समन्वय है ?।

यदेतन्मण्डलं तपति—तन्महदुक्थम्, ता ऋचः, स ऋचां लोकः । यदेतदर्चिर्दीप्यते—तन्महाव्रतम्, तानि सामानि, स साम्नां लोकः । अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः—सोऽग्निः । तानि यजूंषि । स यजुषां लोकः । सैषा त्रय्येव विद्या तपति ।

—शत० ब्रा० १०।५।२।१ २।

अर्थात्—यह जो सूर्य्य का मण्डल हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं उसका नाम महदुक्थ है। इसी का नाम ऋचायें हैं यही ऋचाओं का लोक है । यह जो आलोकमण्डल अर्चिमण्डल से प्रकाशित हो रहा है यही महाव्रत है उसी को साम कहते हैं एवं यही सामों का लोक है। एवं इस मण्डल के केन्द्र में जो पुरुष है—वही अग्नि है उसी को यजुः कहा जाता है यही यजुओं का लोक है । 'सैषा त्रय्येव विद्या तपति' । सूर्य्य क्या तप रहा है, मानो त्रयीविद्या तप रही है । तद्धैतदविद्वांस आहुः, त्रयी वा एषा विद्या तपतीति । विशेष विद्वानों की बात क्या, साधारण व्यक्ति भी कम से कम यह भलीभांति जानते हैं कि—सूर्य क्या है, तीनों विद्याओं का कोश है ।

क्या इत्यादि लोकसमाज सिद्धान्तों का आप वेदमन्त्रों के माध्यम से समाधान करेंगे ? । क्या वेदपुस्तक से रूप-रस-गन्धादि पञ्चतन्मात्रायें उत्पन्न हुई हैं ?।

प्रपञ्च जीवित है । यह सब का आलम्बन है । अतएव उस की पाँचों कलाएं कोशात्मक नाम से व्यवहृत हुई हैं । कलाद्वयभेदेन यह सब का आलम्बन है । इस आलम्बनविज्ञान को आधार बना कर भगवान ने कहा है —

> मत्त परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
> मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
>
> गीता ७।७।

यह स्मरणीय है कि गीता का आत्मस्वरूप अव्ययपुरुष का ही वाचक है। आनन्द विज्ञान मन, प्राण वाङ्मय अव्ययपुरुष 'सच्चिदानन्दघन' है। यह ईश्वरानन्दमय वेदस्वरूप में परिणत होकर ही सर्वत्र व्याप्त रहता है। ब्रह्म वेद दोनों अभिन्न हैं । आनन्दविज्ञानघनमनः-प्राणगर्भिता अव्ययवाक् ही अग्नीषोमा है। स्वस्वरूप से अव्ययात्मा सर्वथा एकरस रहता हुआ भी उपाधि भेद से 'विद्या-वेद-ब्रह्म'- इन तीन रूपों में परिणत हो रहा है । प्रातिस्विक दृष्टि से ब्रह्म विद्या, वेद तीनों पृथक् पृथक् प्रतीत हो रहे हैं । पृथक् पृथक् हैं भी किन्तु अव्यय की दृष्टि से तीनों अभिन्न हैं एकरूप हैं । यही कारण है कि तत् स्थलों में 'त्रयं ब्रह्म सनातनम्' (मनु)–'त्रयो वेदा' सैषा त्रयीविद्या तपति इत्यादि रूप से ऋषि तीनों का अभेदरूप से व्यवहार कर रहे हैं । प्रथम हम इन तीनों का ही संक्षिप्त स्वरूप आपके समक्ष उपस्थित करते जा रहे हैं ।

अध्यात्मजगत् में तीनों का साक्षात्कार कीजिए । ज्ञानकर्म्ममय अव्यय का प्रभूत हम में अर्थात जीवात्मा में ज्ञान-कर्म्म दोनों भाव प्रतिष्ठित हैं । आप सब का किसने दोनों भाव स्वयं अनुभूत हैं । हम कुछ जानते हैं अथवा कुछ करते हैं । ज्ञान-कर्म्म के अतिरिक्त 'अहं' मे और क्या शेष रह जाता है ? ज्ञानतत्त्व नित्य है अस्तमान है । अतएव एकरूप इसे 'अमृत' कहा जा सकता है । प्रतिक्षण विभक्त विकार भावात्मक दूसरे शब्दों में अव्यक्त व्यक्त-अव्यक्त कर्म्म अनित्य है सान्त है नानाभावात्मक है । अतएव इसे मृत्यु कहा जा सकता है ।

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृत आहितम् ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः ॥

के अनुसार अमृतरूप ज्ञान मृत्युरूप कर्म्म में अन्तरान्तरीभावसम्बन्ध से प्रतिष्ठित है। कर्म्म ज्ञान में अनुस्यूत है एवं ज्ञान कर्म्म में अनुस्यूत है। यही कारण है कि, बिना ज्ञान के प्राप्त कोई भी कर्म्म नहीं कर सकते। साथ ही बिना कर्म्म के ज्ञान-सम्पत्ति भी प्राप्त नहीं की जा सकती। दोनों में परस्पर उपकार्य-उपकारकता है। दोनों में आधाराधेयभाव सम्बन्ध नहीं है अपितु अन्तरान्तरीभाव सम्बन्ध है। यदवच्छेदेन ज्ञान प्रतिष्ठित है तदवच्छेदेनैव कर्म्म व्यवस्थित है। क्या ज्ञप्ति में क्रिया है अथवा क्रिया में ज्ञप्ति है दूसरे शब्दों में ज्ञप्ति क्या क्रिया का आधार ज्ञप्ति है, अथवा ज्ञप्ति क्रिया का आधार है? यह प्रश्न सर्वथा असमाधेय है। दोनों कहने को दो हैं वैसे एक है। केवल भाति दो हैं। दोनों की समष्टि ही ओङ्कार (ईश्वर) है। दोनों की व्यष्टि ही अहं (जीवात्मा) है एवं दोनों की समष्टि ही 'अहङ्कार (विश्व) है। विश्वोपनिषद् अहं—अहङ्कार है जीवोपनिषद् अहं है एवं ईश्वरोपनिषद् 'ओम्' है। अहङ्कार विश्वस्वरूप का परिभाषक है अहङ्कार जीवस्वरूप का परिभाषक है एवं ओङ्कार ईश्वरस्वरूप का परिभाषक है। तीनों ही ज्ञानकर्म्म रूप हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर जीवात्मरक्षण-सम्पादिका वाग्धारा से अवच्छिन्न योगेश्वर भगवान् कृष्ण ने कहा है—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।
(गीता ९।१९)

ज्ञानकर्ममय आत्मा का ज्ञान शब्द-विषय-संस्कार भेद से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में हमें तीन ही प्रकार का ज्ञान उपलब्ध होता है। एक ही ज्ञानतत्त्व शब्द-विषय एवं संस्कार इन तीन पृथक् पृथक् उपाधियों से संश्लिष्ट—समन्वित होकर वैसा विभक्त हो जाया करता है। घट, पट, देवदत्त यज्ञदत्त सूर्य, चन्द्र ग्रह नक्षत्र ओषधि वनस्पति, आदि शब्दों के सुनने से आत्मा में (मानसतन्त्र में) तदर्थपरक ज्ञान का उदय हो पड़ता है।

प्रपञ्च बीचित है । यह सब का आलम्बन है । अतएव उस की पाँचों कलायें कोशात्मक नाम से व्यवहृत हुई हैं । कलासम्बन्धेन यह सब का आलम्बन है । इसी आलम्बनविज्ञान को आधार बना कर भगवान् ने कहा है —

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

गीता ७।७।

यह स्मरणीय है कि गीता का अव्ययस्वरूप अव्ययपुरुष का ही वाचक है । आनन्द विज्ञान मन प्राण वाङ्मय अव्ययपुरुष 'सच्चिदानन्दघन' है । यह सच्चिदानन्दब्रह्म वेदस्वरूप में परिणत होकर ही सर्वत्र व्याप्त होता है । ब्रह्म-वेद दोनों अभिन्न हैं । आनन्दविज्ञानघनमना-प्राणगर्भिता अव्ययवाक् ही त्रयीविद्या है । स्वस्वरूप से अव्ययब्रह्म सर्वथा एकरस रहता हुआ भी उपाधि-भेद से 'विद्या-वेद-ब्रह्म'-इन तीन रूपों में परिणत हो रहा है । प्रातिस्विक दृष्टि से ब्रह्म विद्या वेद तीनों पृथक् पृथक् प्रतीत हो रहे हैं । पृथक् पृथक् हैं भी । किन्तु अव्यय की दृष्टि से तीनों अभिन्न हैं एकरूप हैं । यही कारण है कि कतिपय स्थलों में 'त्रयं ब्रह्म सनातनम्' (मनु)-'त्रयो वेदाः सैषा त्रयीविद्या तपति' इत्यादिरूप से श्रुति तीनों का अभेदरूप से व्यवहार कर रहे हैं । प्रथम हम इन तीनों का ही संक्षिप्त स्वरूप आपके समक्ष उपस्थित करने जा रहे हैं ।

अध्यात्मजगत् में तीनों का साक्षात्कार कीजिए । ज्ञानकर्ममय अव्यय के अंशभूत हम में अर्थात् जीवात्मा में ज्ञान-कर्म दोनों भाव प्रतिष्ठित हैं । आपके आप में दिखते दोनों भाव स्पष्ट अनुभूत हैं । हम कुछ जानते हैं, अथवा तो कुछ करते हैं । ज्ञान-कर्म के अतिरिक्त 'अहं' में और क्या शेष रह जाता है !! ज्ञानतत्त्व नित्य है अमृतघन है । अतएव एकरूप इसे 'अमृत' कहा जा सकता है । प्रतिक्षण विनश्वर विपरीत स्वभावापन्न दूसरे शब्दों में सापेक्ष व्यक्त-अव्यक्तात्मक कर्म अनित्य है असत् है नानाभावात्मक है । अतएव इसे 'मृत्यु' कहा जा सकता है ।

वेद सच्चिदानन्दघन ब्रह्मपरमेश्वर के निःश्वास हैं, यह पूर्व में निवेदन किया जा चुका है। सत्ता अस्तित्व है। अस्तित्व का ज्ञान चित् है। जिसका अस्तित्व है तथा जिसका परिज्ञान है वही तीसरा तत्त्व रस, अर्थात् आनन्द है। वस्तु की उपलब्धि अर्थात् प्राप्ति ही वेद है। दूसरे शब्दों में उपलब्ध पदार्थ ही वेदतत्त्व है। इस उपलब्धि में सत्, चित्, रस, तीनों अंश विद्यमान हैं। आप एक पुस्तक उपलब्ध करते हैं। पुस्तक है—आप उसे जानते हैं' इस वाक्य में '(१) पुस्तक–(२) है–(३) जानते हैं' ये तीन अंश हैं। यह 'पुस्तक' रस है 'है' सत्ता है 'जानते हैं' यह चित् है। तीनों के समन्वय से पुस्तकोपलब्धि का स्वरूप निष्पन्न होता है। यही वेद है। वेद में तीनों हैं। अतएव वेदपदार्थ का 'विद्यते इति वेदः' 'वेत्ति इति वेदः' 'विन्दति इति वा वेदः' तीनों प्रकार से निर्वचन किया जा सकता है किया गया है। सत्तार्थक विद् धातु से विद्यते' बनता है ज्ञानार्थक विद् धातु से 'वेत्ति' बनता है एवं लाभार्थक विद् धातु से 'विन्दति' बनता है। 'विद्यते' सत्तामात्र का द्योतक है 'वेत्ति' विज्ञानमात्र का द्योतक है एवं 'विन्दति' रसमात्रसमर्पक है। तीनों की समष्टि वेद है। यही सच्चिदानन्दब्रह्म है। प्रत्येक पदार्थ सच्चिदानन्द है। प्रत्येक पदार्थ वेद है। तभी तो राजर्षि मनु ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर दी है कि—

> चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
> भूतं भव्यं भवच्चैव सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥
>
> —मनु

यह वेदतत्त्व ब्रह्मनिःश्वसितवेद गायत्रीमात्रिकवेद ब्रह्मस्वेदवेद, यज्ञमात्रिकवेद छन्दोवेद विज्ञानवेद रसवेद, उपलब्धिवेद, अक्षयामृतवेद, मह्युक्थवेद ऋग्विवेद पुरुषवेद आदि भेद से अनन्त मार्गों में विभक्त है। हम आरम्भ में ही निवेदन कर चुके हैं कि विनोद की सामग्रीमूलक इत्यम्भूत की वार्ताएँ 'वेद का स्वरूप' जैसे स्वाध्यायानुगत विषय के सम्बन्ध में यथार्थ समाधान करने में सक्षम नहीं हैं। तथापि विशेष आग्रह के कारण उक्त वेदस्वरूपों में से केवल 'यज्ञमात्रिकवेद' स्वरूप का ही संक्षिप्त स्वरूप–परिचय श्रोताओं के समक्ष उपस्थित करने की चेष्टा की जा रही है। यज्ञमात्रिक वेदस्वरूपनिरूपण

'गौ' शब्द सुनते ही अन्तरात्मा में गौ पदार्थ सन्निविष्ट हो जाता है। इसी को शब्दावच्छिन्न ज्ञान कहा जायगा। जिस प्रकार शब्द सुनने से ज्ञान होता है, उसी प्रकार विषयदर्शन से भी ज्ञान होता है। घट, वस्त्र, पुस्तक, गृह आदि पदार्थों (विषयों) के साथ चक्षुरिन्द्रिय के सम्बन्ध होने से तत्तत् पदार्थों के रूपों का सौररश्मिप्रतिफलन के माध्यम से चक्षु पर आगमन होने के कारण तत्तद्विषयक ज्ञान का उदय माना गया है। यही ज्ञान 'विषयावच्छिन्न ज्ञान' नाम से प्रसिद्ध है। शब्द सुनने से तथा पदार्थदर्शन से जो तात्कालिक ज्ञान उदित हुआ है वह श्रद्धा (सोम) रसमय, सर्वेन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञान मन पर कालान्तर में व्यवस्थित हो जाया करता है। वह भावना कहलाया है। कर्मजनित संस्कार आत्मा में बस जाने के कारण 'वसति आत्मनि' इस निर्वचन से 'वासना' नाम से प्रसिद्ध है। शब्दकर्म विषयकर्म ज्ञानकर्म से उत्पन्न भावना-वासनात्मक संस्कार आत्मा में चिरकाल के लिये प्रतिष्ठित हो जाता है। यही संस्कार आगे जाकर 'स्मृति' का जनक बना करता है। निश्चित है कि यदि मानवीय प्रज्ञानमन किसी एक विषय पर कुछ काल पर्यन्त सुदृढ बन जाता है तो उस संस्कार से अपने आत्मा के अन्तर्याम सम्बन्ध के द्वारा संस्कृत पदार्थ के साथ दृढ़ बन्धन से समन्वित करता हुआ यही मन अपने प्रज्ञानमय इन्द्र के द्वारा पुनः पुनः उसी विषय की ओर अनुधावन करता रहता है जैसा कि—

ओकःसारी वा इन्द्रः। यत्र वा एष इन्द्रः पूर्वं गच्छति,
एव तत्रापरं गच्छति। (ऐ० ब्रा० ३।१७।२२) इत्यादि वैदिक
सिद्धान्त से स्पष्ट है।

शब्द सुनते ही किंवा विषय देखते ही जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह तत्काल तिरोहित हो जाया करता है। केवल संस्कार रह जाता है। निरन्तर शब्द सुनिए। यदि संस्कार नहीं, तो सब व्यर्थ। बस यही तीसरा संस्कारावच्छिन्न ज्ञान है। उपर्युक्त तीनों ज्ञान वेद-ब्रह्म-विद्या नामों से प्रकृत रूप में व्यवहृत हुए हैं। शब्दावच्छिन्न ज्ञान वेद है। विषयावच्छिन्न ज्ञान ब्रह्म है। तथा संस्कारावच्छिन्न ज्ञान विद्या है। प्रकृत में वेदपदार्थ निरूपणीय है। अतः उसी की ओर श्रोताओं का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

दन विग्, शुद्ध-मात्रात्मक दिव्य-वीर-पशु-मृग्-भावमय अग्नि इन्द्र, विश्वेदेव पूषा नामक चार वर्णदेवताओं का विकास हुआ है, वही मौलिक तत्त्व मौलिकवेद है। जिस मौलिक तत्त्वत्रयात्मक पर अग्निमय पृथिवीलोक, वायुमय अन्तरिक्षलोक, आदित्यमय द्युलोक, तथा आपोमय चतुर्थलोक का वितान हुआ है वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है।

जिस मौलिक तत्त्व के सहयोग से विराकसित अरपरमाणु संयकम में परिणत होते हुए 'मूर्ति (पिण्ड) भाव में आ जाते हैं वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिन मौलिक तत्त्व के अनुग्रह से मूर्तिभावापन्न (पिण्डात्मक) पदार्थों में आदान विसर्गात्मक गतिभाव का सञ्चार हुआ करता है वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक उक्थतत्त्व अपने वृहत्स्य अर्क (रश्मि) भावों के वितान से मूर्तिभावापन्न पदार्थों की आभ्यन्तर मायमूर्ति को केन्द्र बनाते हुए वही पुरक्त विम्बमण्डल में अपना एक स्वतन्त्र तेजोमण्डल बनाने में समर्थ होता है वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिन मौलिक तत्त्व के आश्रय से एकांशु सूर्य सहस्रांशु बनता हुआ अनन्तांशु बन रहा है वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व अपने तत्त्वबल प्रभाव से 'भूरि' नाम से प्रसिद्ध होता हुआ तत्पुरुषपुरुषात्मक प्रजापति का आत्मनाला बन रहा है वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व केन्द्र-विष्कम्भ-परिणाह-भावों में परिणत होता हुआ पिण्डों का स्वरूपसंरक्षक बन रहा है वही मौलिक तत्त्व मौलिकवेद है।

जो मौलिक तत्त्व प्रस्ताव, उद्गीथ निधन-भावों में परिणत होता हुआ वस्तुभाव के उपक्रम मध्य, उपसंहार-भावों का प्रवर्तक बन रहा है वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व उक्थ, ब्रह्म सामरूप से पदार्थमात्र का प्रभव प्रतिष्ठा, परायण बनता हुआ आत्मा बन रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व हृदयरूप आयतन, परायतन-रूपों में परिणत होता हुआ पदार्थमात्र की स्वरूप के वितान का कारण बन रहा है वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व पार्थिव रथन्तर, मौपलभावों का अभिमान

से पूर्व सामान्यरूप से वेद के उस पारिभाषिक चिरन्तन इतिवृत्त का दो शब्दों में दिग्दर्शन करा दिया जाता है, जिस चिरन्तन इतिवृत्त का महर्षि भरद्वाज के अविद्याभिमूलक 'अनन्तावेद' से सम्बन्ध है। प्रकृतम् । अस्य वाक्यवाम्यर्थाम्

महामायावच्छिन्न सर्वेश्वर, स्रष्टा सर्वधर्मोपपन्न प्रजापति जिस तत्त्व के सहयोग से विश्वनिर्माण में समर्थ हुए हैं उसी तत्त्व का नाम 'मौलिकवेद' है। जिस तत्त्व के सहयोग से प्रजापति यज्ञवितान में समर्थ होते हैं वही तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस तत्त्व के आधार पर प्रजापति प्रजासृष्टिविधान-द्वारा अपने 'प्रजापति' नाम को सार्थक करते हैं वही तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस तत्त्व के आधार पर सर्वज्ञ प्रजापति त्रैलोक्य में अपनी ज्ञानकला का प्रसार करते हैं वही तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस तत्त्व से सर्वशक्तिमान् प्रजापति रोदसी ब्रह्माण्ड में अपनी क्रिया का विस्तार करते हैं वही तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस तत्त्वानुगति से सर्ववित् (सर्वार्थपन) प्रजापति सर्वप्रपञ्च के अध्यक्ष बने हुए हैं, वही तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस प्रतिष्ठातत्त्व के आधार पर प्रजापति स्वयं, अतएव प्रतिष्ठा-शून्य आपोमय समुद्र के गर्भ में प्रविष्ट होकर प्रतिष्ठित होते हैं वही प्रतिष्ठातत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो प्रतिष्ठातत्त्व स्वयम्भूपरमेष्ठिसूर्यात्मक त्रिपर्व प्रजापति को प्रतिष्ठा प्रदान करता है वही प्रतिष्ठातत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस प्रतिष्ठातत्त्व के आधार पर गुणभूत, अणुभूत, रेणुभूत, महाभूत, सत्त्वभूत, इन पाँच भूतवर्गों का विकास होता है वही प्रतिष्ठातत्त्व 'मौलिकवेद' है।

जिस प्रतिष्ठातत्त्व को आधार बना कर प्रजापति 'विज्ञान' लक्षण चित्तिभाव से युक्त हो रहे हैं, ज्ञानात्मक ज्ञानघनसमर्थक वही प्रतिष्ठाभाव 'मौलिकवेद' है। जिसे प्रतिष्ठा बना कर प्रजापति 'चेति' लक्षण चिद्भाव से युक्त हो रहे हैं, चिदात्मक चिद्घनसमर्थक वही प्रतिष्ठाभाव 'मौलिकवेद' है। जिसके सहयोग से प्रजापति 'विभूति' लक्षण रसभाव (आनन्द) से युक्त हो रहे हैं, रसात्मक, रसघनसमर्थक वही प्रतिष्ठाभाव 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व से सर्व-व्यापक वाग्मय के भूत-वर्तमान-भविष्यत्, ये तीन त्रैकालिक लक्षण हो जाते हैं वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व के आधार पर ब्रह्म

न यास्या-कर्मों का उपादान बना हुआ है, वही मौलिक तत्व 'मौलिक है। जिस मौलिक तत्व ने अपने ऋतभाव से प्राणाग्नि को होमकर्म का ार्यों से प्राणवायु का आध्वर्यवकर्म का एवं स्तोमभाव से प्राणादित्य को गानकर्म का अध्यक्ष बना रक्खा है वही मौलिक तत्व 'मौलिकवेद' है। मौलिक तत्व ने प्रातःसवन के द्वारा गायत्री का माध्यन्दिनसवन के द्वारा ष्टुप् का एवं, सायंसवन के द्वारा जगती का नियन्त्रण कर इन नियन्त्रित छन्दों द्वारा सप्रम्पिराण् सहित प्राणदेवताओं का नियन्त्रण कर रक्खा है वही तत्व 'मौलिकवेद' है।

जिस मौलिक तत्व ने अपने अपान-व्यान-समान-रूप में परिणत होते : अपानद्वारा बस्तिगुहा का व्यानद्वारा उदरगुहा का एवं समानद्वारा उरोगुहा का न्त्रण कर हमारी अध्यात्मसंस्थाओं को सुव्यवस्थित बना रक्खा है, वही मौलिक व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्व ने अपने वाङ्मय शरीर को पश यन्ती मध्यमा वैखरी-रूप में परिणत करते हुए वाङ्मय प्रपञ्च पर अपना नन्य शासन प्रतिष्ठित कर रक्खा है, वही मौलिक तत्व मौलिकवेद' है। न मौलिक तत्व ने अपने शुक्ल कृष्ण एवं मध्यवर्ति हरित रूपों से न्यामृग को चर्मस्वरूप प्रदान कर रक्खा है, वही मौलिक तत्व 'मौलिकवेद' है। न मौलिक तत्व के आधार पर त्रैलोक्यसम्पादक प्रजापति यज्ञसाधनभूत वैदि- यज्ञसम्पत्ति-सम्पादन करने में समर्थ होते हैं, वही मौलिक तत्व 'मौलिकवेद' । जो मौलिक तत्व अपने अपर-पर भावों से ११३१ शाखाओं में विभक्त हो हा है वही मौलिक तत्व 'मौलिकवेद' है।

अनन्त ब्रह्माण्डों की अनन्त महिमाओं के सम्पादन से बने हुए जिस मौलिक तत्व । ब्रह्मेन्द्र के वरदान से अनुगृहीत भरद्वाज महर्षि को अपने आंशिक स्वरूप से कृतार्थ किया वही मौलिक तत्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्व का ईश्वरीय रणा से ब्रह्मादि-मुनिपर्यन्त आप्त महापुरुषों के अन्तःकरणों में प्रादुर्भाव हुआ वही मौलिक तत्व 'मौलिकवेद' है। अन्तःकरणों में प्रस्फुटित जो मौलिक तत्व (विद्यातत्व) अनादिनिधना सत्या वाक् के द्वारा शब्दरूप से आर्षेयता के

करता हुआ द्यावापृथिवी के परिग्रह का कारण बन रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व अपने वितानभाव से बृहत्, वैराज, रैवत—साम्नी में परिणत होता हुआ सूर्यपिण्ड की प्राणात्मना लोकालोक पर्यन्त व्याप्त किए हुए है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व अपने वितानभाव से रथन्तर, वैरूप शाक्वर—साम्नों में परिणत होता हुआ भूपिण्ड का प्राणात्मना सूर्यपिण्ड से भी ऊपर तक व्याप्त किए हुए है वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है।

जो मौलिक तत्त्व 'स्वयम्भू' नाम से प्रसिद्ध 'आभूप्रजापति' का निःश्वास बनता हुआ 'ब्रह्मनिःश्वसित' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व भावी पुरुषसंस्था के भी विकास का कारण बनता हुआ स्वयं 'अपौरुषेय' बन रहा है वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व यज्ञातिरेक से पदब्रह्म बनता हुआ पारमेष्ठ्य मण्डल की प्रतिष्ठा बन 'सुब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व गायत्रछेद में परिणत होता हुआ और गायत्रमण्डल का प्रतिष्ठा बन कर 'गायत्रीमात्रिक' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व सम्वत्सर अयन मास पक्ष अहोरात्र मुहूर्त पलिका, पल श्वास आदि कालावयवों में विभक्त होकर कालब्रह्मस्वरूप का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ 'कालब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व अनन्तादि पञ्चपुरमण्डलरूप पार्थिव मण्डलात्मा का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ 'यज्ञमात्रिक' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है।

जिस मौलिक तत्त्व से अपनी सदृश (अनन्त) मात्रा से प्रत्येक वस्तु में अपना 'पुरुष' उत्पन्न कर प्रत्येक वस्तु में स्वरूप 'ब्रह्म' उत्पन्न कर प्रत्येक वस्तु में अपना 'अग्नि' भाग उत्पन्न कर ब्रह्मानुग्रहात्मक 'महाब्रह्म' भावानुग्रहात्मक 'महाप्राण', एवं वस्तुसंग्रहात्मक 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व शब्द और, अर्थ भावों के द्वारा दर्शन,

वेदशास्त्र में प्रतिपादित अनन्त विषयों में यदि कोई सब से व्यापक विषय है वह एकमात्र वही 'वेदपदार्थ' है। वेद के, अर्थात् वेदशास्त्र के वेद को, र्थात् वेदपदार्थ को जिसने जान लिया, वही वेद की दृष्टि में 'सर्ववित्' बन या। और जिसने वेद के इस वेद (पदार्थ) को नहीं जाना पूर्वकथनानुसार— स वेद न स वेद' (अर्थात् उसने कुछ नहीं जाना कुछ नहीं जाना)। स शैली से, जिस दृष्टिकोण से वेद का जो स्वरूपविचार आज हम करने चल हैं उसकी उपलब्धि वर्तमान युग में उपलब्ध होने वाले वेदभाष्यों वेदस्वाध्यायों सर्वथा अनुपलब्ध है। और इसी भ्रान्ति के निराकरण के लिए हमें मध्य म में वैसे श्रौत वचनों का दिग्दर्शन कराना पड़ रहा है जिनके आधार पर ीं की शब्दप्रमाणनिष्ठा आर्षवाणि अमुक सीमापर्य्यन्त इस दृष्टिकोण का भी पनी प्रज्ञा के साथ समन्वय करने की चेष्टा कर सके।

दो-दो सौ वर्षों से प्रचलित रूढ़िवादों को ही 'परम्परा' नाम से व्यवहृत रने वाले तत्त्वभूत परम्परानुगामी 'अनर्थात्मक-अर्थों से ही सन्तुष्ट हो जाने ले वैदिक साहित्य के तात्त्विक परिशीलन से सर्वथैव अपरिचित वो महानुभाव रम्परासिद्ध अर्थ ही मान्य है' इस वाक्य का उद्घोष किया करते हैं, उनके म्बन्ध में हम इस सामान्य वक्तव्य में क्या निवेदन करें। इसके लिए तो स्वतन्त्र से लगभग एक लक्ष पृष्ठात्मक साहित्य (उपनिषद्भूमिकारूप से) काशित किया जा चुका है, जिसमें इस वेदतत्त्व का एवं वेदतत्त्व के अपौरुषेयत्व ा ही स्वरूपनिरूपण हुआ है। हमारी ऐसी धारणा है ऐसा दृढ़ विश्वास है कि, दि पारिभाषिक दृष्टिकोण से वैदिक तत्त्व के स्वाध्याय में अनन्य निष्ठा से यहाँ ी प्रज्ञा प्रवृत्त हो जाय, तो चिरकाल से विलुप्तप्राया वेदपरम्परा के तात्त्विक वरूप की ओर अवश्य ही उनका ध्यान आकर्षित हो सकता है। हाँ तो लीजिए हर्षि भरद्वाज के अनन्तवेद की गाथा दो शब्दों में और सुन ली जाय।

सुप्रसिद्ध वेदनिष्ठ महर्षि भरद्वाज ने अपनी वेदस्वाध्यायविषयिणी जिज्ञासा पूरी करने के लिए आयुःप्रवर्त्तक इन्द्रदेव की उपासना की। इन्द्र ने प्रसन्न होकर महर्षि भरद्वाज को १ वर्ष की आयु प्रदान की। अपनी आयु के इन १

सर्वाभ्युदय के लिए प्रवृत्त हुआ वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो श
शास्त्र जिस मौलिक तत्त्व (विद्यातत्त्व) के प्रतिपादन से 'वेदशास्त्र' नाम से प्र
हुआ वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्वप्रतिपादक
अनित्य शब्दात्मक भी वेदशास्त्र स्वतःप्रमाणशास्त्र माना गया वही मौ
तत्त्व 'मौलिकवेद' है। महर्षि कश्यप–वसिष्ठ–भृगु–अङ्गिरा–बृहस्पति–आ
दीन महर्षियों ने अपने तपःपूत जीवन का जिस मौलिक तत्त्व की व्यापक
प्रचार, प्रसार में उपयोग करते हुए अपने आपको धन्य बनाया, वही मौ
तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व के तात्त्विक अभिनय से भार
के प्राचीन वैज्ञानिकों ने सूर्यकिरण, इर्म्य लक्ष्य, यज्ञ (वेदकर्म) यो ये
चमस, विमान ग्रह, ज्योति विद्युत आदि आविष्कारों से संसार को चमत्
किया वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। यहाँ के मनुष्यों ने जिस मौलिक
के बल से सैनापत्य राष्ट्रस्तर लोकनीति, समाजनीति, नागरिकनीति, राष्ट्री
अर्थनीति धर्मनीति, मोक्षनीति शिल्प कला साहित्य आदि में पारदर्शि
प्राप्त करते हुए अपने आपको 'जगद्गुरु' की उपाधि से विभूषित किया
मौलिक विद्या 'मौलिकवेद' है।

और सर्वान्त में—भारत सम्प्रदायवाद से स्वस्वरूप से आवृत होने वाले जि
मौलिक तत्त्व की विस्मृति से भारतप्रजा ने अपना सर्वस्व वैभव नियति के जि
विपुलोदर में आहुत कर दिया वही विस्मृत मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद'।
जिस विस्मृत मौलिक तत्त्व ने शब्दराशिरूप जिस वेदशास्त्र को केवल पाठ
की वस्तु बना डाला, वही विस्मृत मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस वि
मौलिक तत्त्व की स्मृति के बिना भारतप्रजा का उद्धार असम्भव है वही विस्
मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस विस्मृत मौलिक तत्त्व की स्मृति के लि
सम्प्रदायवादशून्य विशुद्ध भारतीय का अनुगमन अपेक्षित है वही विस्
मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है, जिसके कि कुछ एक स्मृति–बिन्दुओं का अमृत प्रवा
में संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जा रहा है। यही हमारे इन विस्मृत, तात्त्वि
मौलिकवेद का अर्थ से इति–पर्यन्त का का संक्षिप्त इतिहास है। इसी इतिवृत्त
सामने रखते हुए हमें मौलिकवेदस्वरूप की मीमांसा में प्रवृत्त होना है।

ईकैकस्मान्मुष्टिमाददे । स होवाच, भरद्वाजेत्यामन्त्र्य । वेदा वा एते । "अनन्ता वै वेदाः" । एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथाः, अथ त इतरदनूक्तमेव" । (तै० ब्रा० ३।१०।११) ।

कृतयुग जैसे शान्तयुग के शान्त वातावरण में स्वतः ब्रह्मचर्य का अनुगमन करने वाले तपःपूत मेधावी भरद्वाज जैसे सर्वसमर्थ महर्षि ने निरन्तर तीन सौ वर्ष पर्यन्त वेदस्वाध्याय किया और परिणाम में पर्वताकार अनन्त महावेदों में से मुट्ठी-भर ही वेदज्ञान प्राप्त कर सके उनकी यह लालसा मनी ही रह गई। ऐसी दशा में कलियुग जैसे अशान्तयुग के अशान्त वातावरण में ब्रह्मचर्य, तपः, क्षय, आदि स्वाध्यायपरिपोषक साधनों से एकान्त वञ्चित अल्पायु भाव के द्विजाति के मस्तिष्क में स्वभावतः इस भावना का उद्रेक सहज बन जायगा कि जब कृतयुग में भरद्वाज जैसे महर्षि वेद का पूर्ण ज्ञान प्राप्त न कर सके तो इस घोरयुग में हमारे—जैसे हीनवीर्यों का वेदस्वाध्याय की ओर प्रवृत्त होना ही निरर्थक है। प्रश्न होता है कि जब वेद अनन्त हैं उनका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता, समस्त आयु लगा कर भी जिनका कणमात्र ही प्राप्त होता है तो ऐसे अनन्त वेद की प्रवृत्ति का आदेश ही श्रुति ने क्यों दिया ?। क्योंकि बिना पूर्णता के किसी भी विषय में आगम प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त अन्य श्रुतियों ने कई स्थलों में कई महर्षियों के लिए जब यह घोषणा की है कि, अमुक महर्षि वेद के पारदर्शी हैं, अमुक वेदवित् हैं अमुक सर्ववित् हैं। तो ऐसी दशा में उक्त तैत्तिरीय श्रुति के—"वेदज्ञान की परिपूर्णता असम्भव है" इस विरोधी सिद्धान्त का समन्वय कैसे किया जाय ?। तत्सम्बन्ध तैत्तिरीय श्रुति का उक्त आख्यान वेदस्वाध्यायप्रवृत्ति की ओर से हमें उदासीन ही बना रहा है। क्या कोई ऐसा भी उपाय है जिसके अनुगमन से हमें यह विश्वास हो जाय कि ऐसा करने से वेद की परिपूर्णता के हम भी अनुगामी बन सकेंगे ?। है और अवश्य है। जो तैत्तिरीय श्रुति प्रवचन पूर्वक से वेदों की अनन्तता का उद्घोष करती हुई हमें एक दृष्टिकोण से निराश कर रही है वही तैत्तिरीय श्रुति अपने उपाख्यान के एक वाक्यविशेष के द्वारा अर्थतः दूर से अनन्त वेद का ग्रहण संभव बतलाती हुई दूसरे दृष्टिकोण से हमें यह आश्वासन दे रही है कि इस उपाय से हम

वर्षों में अनन्त योग से वेदस्वाध्याय किया इस अनुभिप्रज्ञा ने। अन्त में उमर पर भरद्वाज का शरीर सर्वथा जीर्ण-शीर्ण हो गया वृद्धावस्था ने आक्रमण किया भरद्वाज ने परिणामस्वरूप शय्या का आश्रय ग्रहण कर लिया। इस जीर्णावस्था में पड़े हुए अन्तिम समय की प्रतीक्षा कर ही रहे थे कि, एक दिन 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' से सम्बन्ध रखने आभिमानिक देवता अपने स्वस्वरूप को लेकर उनके सम्मुख उपस्थित हुए, और इन्द्रदेवता ने भरद्वाज ! से कहा कि भरद्वाज यदि मैं तुम्हें १ वर्ष की आयु और दे दूँ तो इस प्राप्त आयु का उपयोग तुम किस कार्य्य में करोगे ?, वेदस्वाध्यायनिष्ठ भरद्वाज के मुख से निकला कि मैं आपसे प्राप्त इस आयु में भी स्वाध्याय ही करूँगा क्योंकि अभी मेरा वेदतत्त्वज्ञान अपूर्ण है। (मन मन्दहास करते हुए इन्द्र ने भरद्वाज की इस तृष्णा का निराकरण करने के लिए भरद्वाज की दृष्टि के सामने पर्वताकार वेद के तीन ऐसे विशाल स्तूप रक्खे, कि इस दिन से पहिले भरद्वाज ने कभी न देखा था। उन तीनों वेदपर्वतों इन्द्र ने एक एक मुट्ठी भर वेद लिया और भरद्वाज को सम्बोधन कर कहे कि भरद्वाज ! देखते हो मेरी मुट्ठी में क्या है ? ये वेद हैं। भरद्वाज ! अनन्त हैं"। अपनी आयु के मुक्त तीन सौ वर्षों में तुमने इन तीन कितना वेदतत्त्व प्राप्त किया है। अभी यह अनन्त पर्वताकार अनन्त वेद लिए अविज्ञात ही पड़ा हुआ है। इसलिए यह आशा छोड़ दो कि, १० और मिल जाने से मैं सम्पूर्ण वेद का परिज्ञाता बन जाऊँगा।

इस ही 'अनन्ता वै वेदाः' धारणा के माध्यम से वेदेन्द्र निम्न रि रूप से वेद की अनन्तता का समर्थन कर रहे हैं—

"भरद्वाजो ह वै त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्य्यमुवास। तं ह जी स्थविरं, शयानं इन्द्र उपव्रज्य उवाच। भरद्वाज ! यत्ते च मायुर्दद्यां, किमनेन कुर्य्या इति ? ब्रह्मचर्य्यमेवैनेन च होवाच। तं ह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार।

माधिकार है मस्तकस्थ आदित्य विराट्‌ मस्तक है । पूर्वोक्त सभी देवता उसी प्रकार इस सावित्राग्नि से बद्ध हो रहे हैं जैसे कि एक महावस्त्र में अन्य वस्तु सूत्री से सी दी जाती हो । इसीलिए तो यह सर्वमूर्ति अग्नि 'सावित्र' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है । सावित्राग्नि ही तो वास्तविक अग्नि है अग्नि ही तो विश्व है, विश्व ही तो वेद है इस वेदात्मक विश्व के सावित्राग्निरहस्य को जान लेना ही तो वेद का मौलिक स्वरूप जान लेना है । सावित्राग्नि की इसी सर्व-व्याप्ति का स्पष्टीकरण करते हुए इन्द्र भरद्वाज से कह रहे हैं—

१—"एहि ! इमं विद्धि । अयं वै 'सर्वविद्या'–इति । तस्मै हैत मग्निं सावित्रमुवाच । तं स विदित्वा, अमृतो भूत्वा, स्वर्गं लोकमियाय–आदित्यस्य सायुज्यम् । अमृतो हैव भूत्वा स्वर्गं लोकमेति, आदित्यस्य सायुज्य, य एवं वेद ।"

२—"एषा उ त्रयीविद्या । यावन्तं ह वै अनया विद्यया लोकं जयति, तावन्तं लोकं जयति, य एवं वेद" ।

३—"अग्नेर्वा एतानि नामधेयानि । अग्नेरेव सायुज्यं सलोकता माप्नोति, य० । वायोर्वा एतानि नामधेयानि । वायोरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति, य० । इन्द्रस्य वा एतानि नामधेयानि । इन्द्रस्यैव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति, य० । बृहस्पतेर्वा एतानि नामधेयानि । बृहस्पतेरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति, य० । प्रजापतेर्वा एतानि नामधेयानि । प्रजापतेरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति, य० । ब्रह्मणो वा एतानि नामधेयानि । ब्रह्मण एव सायुज्यं सलोकता माप्नोति य०" ।

वेदवित् बन सकते हो, अमृतत्व प्राप्त कर सकते हो, सम्पूर्ण विश्व का वैभव प्राप्त कर सकते हो कृतकृत्य बन सकते हो। श्रुति का यही उपाय तैत्तिरीय श्रुति में 'सावित्राग्नि' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसके मौलिक स्वरूप-परिचय से आज भी भारतीय अन्वेषकगण सर्वात्मना सन्तुष्ट एवं तृप्त हो गए थे, जिसके कि परिज्ञान से विश्वोपासिक शाश्वत शान्त वेदस्वरूप की परिपूर्णता यथार्थ बन जाती है जिस-कि उक्त स्वरूप भी प्रकृत वेदस्वरूपनिरूपण-प्रकरण का मुख्य लक्ष्य है।

सावित्राग्नि वह अग्नि है, जिसने अपने मर्त्यरूप से जहाँ प्रजापति के मर्त्यभाग पर अपनी प्रभुता स्थापित कर रक्खी है वहाँ अपने अमृतरूप से प्रजापति के अमृतभाग को भी स्वायत्त कर रक्खा है। सावित्राग्नि वह अग्नि है जिसने अपने मर्त्यभाग से वेदमूलक प्रवृत्तिलक्षण यज्ञ-तप-दान-कर्मों के द्वारा लौकिक वैभव की रक्षा कर रक्खी है एवं अपने अमृतभाग से वेदमूलक निवृत्तिलक्षण यज्ञ-तप-दान-कर्मों से आत्मवैभव भी सुरक्षित कर रक्खा है। सावित्राग्नि वह अग्नि है जिसने अपने ज्योतिर्भाग से विश्वमर्यादा का सञ्चालन करने वाले प्राणदेवताओं का स्वरूप सुरक्षित कर रक्खा है अपने गौभाग से विश्व के पार्थि-मौतिक वर्ग का स्वरूप-सम्पादन कर रक्खा है, एवं अपने आयुर्भाग से चराचर की आत्मप्रतिष्ठा बना हुआ है। सावित्राग्नि वह अग्नि है जिसने अपने ऊर्ध्व सदृश अमृतभाग से ब्रह्मनिःश्वसित, एवं ब्रह्मवीर्यवेद को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित कर रक्खा है अपने मानसिक (अमृतमृत्युलक्षण उभयविध) रूप से गायत्रीमात्रिकवेद को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित कर रक्खा है एवं मत्स्यलक्षण अपने मर्त्यभाग से चन्द्रवेद तथा पार्थिव ब्रह्माण्डवेद की स्वरूपरक्षा कर रक्खी है। सावित्राग्नि वह अग्नि है जिसने अपने आदित्य से अपने उपासक महर्षि याज्ञवल्क्य को शुक्लयजुर्वेद का वर प्रदान किया है। सावित्राग्नि वह अग्नि है जिसने अग्निमयी पृथिवी वायुमय अन्तरिक्ष इन्द्रमय द्युलोक बृहस्पतिमय सूर्यमण्डल प्रजापतिमय परमेष्ठीमण्डल, एवं ब्रह्ममय स्वयम्भूलोक इन ७ को भी स्वरूप-रक्षा करता हुआ उन सप्तलोकविभूति से इस चराचर विश्व में संचालन कर रक्खा है। सावित्राग्नि वह अग्नि है जिसके (चित्याग्नि की भांति) न तो पक्ष हैं न पुच्छ है अपितु पक्ष-पुच्छ समान जिसका उसका मुख अर्थात्

दोनों में परस्पर उपकार्य्य उपकारक सम्बन्ध है। वैदिक भाषापरिभाषा के अनुसार मुख्याधिष्ठातारूप मह को 'प्रतिपत्' कहा जाता है। उपमह इसी में प्रपन्न हैं, मह ही उपमहों की उपक्रमोपसंहारभूमि है अतएव इसे प्रतिपत् कहना अन्वर्थ बनता है। एवं उपमहों को अनुचर कहा जाता है। मह को मूल बनाये उपमह इसी के अनुगत बने रहते हैं अतएव इन्हें 'अनुचर' कहना अन्वर्थ बनता है। इसप्रकार मह इन्द्र, प्रतिपत् आदि नामों से व्यवहृत अधिष्ठाता एवं उपमह अनता, अनुचर आदि नामों से प्रसिद्ध अनुयायी इन दोनों के समन्वित रूप का ही नाम ईश्वर है। यह ईश्वरमर्य्यादा इसी रूप से प्रत्येक धर्म में प्रतिष्ठित आधिभौतिक आध्यात्मिक आधिदैविक, आधियाज्ञिक विज्ञानिक आदि यच्चयावत् विवर्तों में ज्यों की त्यों प्रतिष्ठित है।

एक गृहस्थ परिवार को ही लीजिए। गृहस्थ का वह वृद्धपुरुष जो सम्पूर्ण गृह्य कर्मों का सञ्चालक है जिस के आदेश पर गृहस्थ के अन्य व्यक्ति स्व स्व कर्मों में प्रवृत्त होते हुए इस वृद्धपुरुष के अनुगामी बने रहते हैं—मह है एवं आश्रित पारिवारिक सब व्यक्ति उपमह हैं। वृद्धपुरुष इन्द्र है प्रतिपत् है पारिवारिक व्यक्ति अनता है अनुचर है। जातीय व्यवस्थाओं का निर्णायक पञ्च (चौधरी) मह इन्द्र प्रतिपत् है तदनुगता सम्पूर्ण जाति उपमह, अनता, अनुचर है। ग्रामाध्यक्ष मह, इन्द्र, प्रतिपत् है तदनुगता ग्रामप्रजा उपमह, अनता, अनुचर है। कर्म्मात्मा मह, इन्द्र, प्रतिपत् है तदनुगत शरीर, इन्द्रियाँ मन, बुद्धि सब कुछ उपमह, अनता, अनुचर है। वाक् प्राण चक्षु, श्रोत्र मन बुद्धि शरीर, सब एक एक स्वतन्त्र मह इन्द्र प्रतिपत् हैं एवं विविधभावापन्न शब्दप्रपञ्च प्राणापानव्यान-समानोदानादि प्राणप्रपञ्च विविधभावापन्न रूपप्रपञ्च विविधभावापन्न सत्-असत् शब्दलहरियाँ, काम संकल्प विचिकित्सा सुख दुःखादि मानसप्रपञ्च विद्या, अविद्या धृति, मानस आदि विविध बौद्धप्रपञ्च एवं स्नायवस्थ्यादि पाञ्चभौतिक सब इन महों के क्रमशः उपमह अनता अनुचर हैं।

गुरु महेन्द्र है, शिष्यमण्डली उपमहादि है। नेता महेन्द्र है अनुयायी उपमहादि है। शासक महादि है शासित उपमहादि है। और इस प्रकार मातृ-मेयलक्षण

दोनों में परस्पर उपकार्य, उपकारक सम्बन्ध है। वैदिक भाषापरिभाषा के अनुसार मुख्याधिष्ठातारूप मह को 'प्रतिपत्' कहा जाता है। उपमह इसी में प्रपन्न हैं मह ही उपमहों की उपक्रमोपसंहारभूमि है, अतएव इसे प्रतिपत् कहना अन्वर्थ बनता है। एवं उपमहों को 'अनुचर' कहा जाता है। मह को मूल बना कर ये उपमह इसी के अनुगत बने रहते हैं अतएव इन्हें 'अनुचर' कहना अन्वर्थ बनता है। इसप्रकार मह, इन्द्र प्रतिपत्, आदि नामों से व्यवहृत अधिष्ठाता एवं उपमह जनता अनुचर, आदि नामों से प्रसिद्ध अनुयायी इन दोनों के समन्वित रूप का ही नाम ईश्वर है। यह ईश्वरमर्यादा इसी रूप से ईश्वरीय गर्भ में प्रतिष्ठित आधिभौतिक, आध्यात्मिक आधिदैविक आधियाज्ञिक आधिविनात्मक आदि यच्चयावत् विवर्तों में ज्यों की त्यों प्रतिष्ठित है।

एक गृहस्थ परिवार को ही लीजिए। गृहस्थ का वह वृद्धपुरुष जो सम्पूर्ण गृहकर्मों का सञ्चालक है, जिस के आदेश पर गृहस्थ के अन्य व्यक्ति स्व स्व कर्मों में प्रवृत्त होते हुए इस वृद्धपुरुष के अनुगामी बने रहते हैं—मह है एवं आश्रित पारिवारिक सब व्यक्ति उपमह हैं। वृद्धपुरुष इन्द्र है प्रतिपत् है पारिवारिक व्यक्ति जनता है अनुचर है। जातीय व्यवस्थाओं का निर्णायक पञ्च (चौधरी) मह, इन्द्र प्रतिपत् है तदनुगत सम्पूर्ण जाति उपमह, जनता, अनुचर है। ग्रामाध्यक्ष मह इन्द्र, प्रतिपत् है तदनुगत ग्रामप्रजा उपमह जनता, अनुचर है। कर्मात्मा मह, इन्द्र, प्रतिपत् है तदनुगत शरीर, इन्द्रियाँ, मन बुद्धि सब कुछ उपमह, जनता, अनुचर है। वाक् प्राण चक्षु, श्रोत्र, मन बुद्धि शरीर, सब एक एक स्वतन्त्र मह, इन्द्र, प्रतिपत् हैं एवं विविधभावापन्न शब्दप्रपञ्च प्राणापानव्यान-व्यानोदानादि प्राणप्रपञ्च विविधभावापन्न रूपप्रपञ्च, विविधभावापन्न सत्-असत् शब्दश्रुतियाँ, काम संकल्प विचिकित्सा श्रद्धा इत्यादि मानसप्रपञ्च विद्या अविद्या धृति, मात्सर्य आदि विविध बौद्धप्रपञ्च एवं रसासृङ्मांसादि षट्प्रपञ्च सब इन महों के क्रमशः उपमह, जनता, अनुचर हैं।

गुरु महादि है शिष्यमण्डली उपमहादि है। मित्र महादि है सौम्य उपमहादि है। शास्ता महादि है शासित उपमहादि है। और इस प्रकार भोक्ता-भोग्यभावा

४—"स वा एषोऽग्निः सावित्रः—अपचपुच्छो वायुरेव । तस्य अग्निर्मुखं, असावादित्यः शिरः । स यदेते देवते अन्तरेण, तत्सर्वं सीव्यति । तस्मात् सावित्रः" ।

—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ काण्ड । १०३ प्रपाठक । ११ अनुवाक ।

यह तो हुआ सावित्राग्नि का तत्त्वलक्षण-दृष्टि से सामान्य विचार । अब स्वरूपलक्षण-दृष्टि से भी इस पर दृष्टि डाल लेना प्रासङ्गिक मान लिया जाता है । जिस सावित्राग्नि ने अग्नि-वायु-इन्द्र-बृहस्पति प्रजापति-ब्रह्म-इन्द्र ९ देवताओं को अपने में 'धी' रक्खा है ओतप्रोत कर रक्खा है जो सावित्राग्नि सर्व सर्वविद्यामय बनता हुआ इन ९ ओं वेदसंस्थाओं की प्रतिष्ठा बन रहा है, उस सावित्राग्नि का और उस सावित्राग्नि का—जिसके कि परिज्ञान से मनुष्य की महद् वेदतृष्णा शान्त हो जाती है क्या स्वरूप है ! इसी प्रश्न का यहाँ दो शब्दों में दिग्दर्शन कर लेना है ।

'सावित्राग्नि' शब्द से ही यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि इस अग्नि का और सवितामण्डल का घनिष्ठ सम्बन्ध है सवितामण्डल के सम्बन्ध से ही यह अग्नि 'सावित्र' कहलाया है । अतएव इसके स्वरूप के लिए हमें पहिले तदभिन्न रूप 'सवितामण्डल' का ही विचार करना पड़ेगा । एवं इसके लिए 'ग्रहोपग्रह-विज्ञान' का आश्रय लेना पड़ेगा । जो वस्तुपिण्ड अपने अनुगामियों को साथ लेकर स्वतन्त्ररूप से प्रतिष्ठित रहता है उसे तो 'ग्रह' कहा जाता है एवं इस ग्रह के ही प्रवर्ग्यांशों से उत्पन्न इस ग्रह से नित्य युक्त ग्रहानुयायी 'उपग्रह' (ग्रह समीप अनुवर्ती ग्रह) नाम से प्रसिद्ध है । ग्रह सदा एक होता है उपग्रह अनेक होते हैं । वैदिक विज्ञानपरिभाषा के अनुसार कुम्भाधिष्ठातारूप ग्रह को 'इन्द्र' कहा जाता है एवं तदनुवर्ती उपग्रहों को 'जनता' कहा जाता है । 'एकैको जनतायामिन्द्रः' (ऐ० ब्रा० ३।७।६।२।) इस निगमवचन के अनुसार उपग्रहरूप जनता ([illegible]) में अवश्य ही एक एक ग्रहरूप इन्द्र हुआ करता है । बिना इन्द्र के जनता अप्रतिष्ठित है, बिना जनता के इन्द्र अप्रतिष्ठि

यह महोमयप्रसर्यांश न केवल मानवसमाज में ही, अपितु घर-घर सर्वत्र है। मधुमक्खियाँ वहाँ उपमह है मधुकरराजा वहाँ मह है। इसी प्रकार पशु-कृमि-कीट-ओषधि-वनस्पति-पर्वत नद-नदी-नक्षत्र आदि सर्वत्र सब वर्ग (मनवबलियों) में आप एक एक इन्द्र (मुख्याधिष्ठाता) का साम्राज्य देखें। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, यह इन्द्र जनता से कोई पृथक विशेष नहीं है। अपितु जनता का ही वह एक भाग जोकि स्वक्षत्र-वीर्य-पराक्रम उत्पन्न बना रहता है, इन्द्र बन जाया करता है। इन्द्र क्या बन जाया करता, स्वयं जनता ही उसे नतमस्तक होकर इन्द्र मान लेती है। किं का राज्याभिषेक किया है ?, अपितु वह अपने वीर्य से स्वयमेव अपने आपको का इन्द्र मनवा लिया करता है। सभी आत्मवीर्यविकास से इन्द्र बन सकते सभी का ऐन्द्रपद वीर्यपात से जनता के रूप में परिणत हो सकता है। सभी इन्द्र (मोक्ता-अन्नाद) हैं सभी जनता (भोग्य-अन्न) हैं।

विश्वप्रवर्त्तक किंवा सर्वप्रवर्त्तक मौलिक तत्त्व ही 'मौलिकवेद' है यह मौ वेद के इतिवृत्त से गतार्थ है। अब इस सम्बन्ध में हमें यह विचार करना है किस मौलिक वेद से विश्व का उद्गम हुआ है उस विश्व का तो क्या स्वरूप तत्प्रवर्त्तक मौलिकवेद की अनन्तता का क्या स्वरूप है ? एवं यह अनन्त सावित्राग्नि के द्वारा कैसे सादि-सान्त बनता हुआ बुद्धिमाह्य बन जाता है सावित्राग्नि का महोत्पादविज्ञान से क्या सम्बन्ध है ? एवं स्वयं सावित्राग्नि मौलिक स्वरूप क्या है ?। इन प्रश्नों के समाधान के लिए तो स्वतन्त्र स्वाध्याय ही अपेक्षित है। अभी केवल प्रतिज्ञा और अनुचर इन दो शब्दों दो शब्दों में व्याख्या और आपके सामने रख कर पुनः वेद के स्वरूप-विचार ओर आपने आत्माओं का ध्यान आकर्षित करेंगे।

प्रतिशापित ब्रह्म-विश्वविज्ञान के अवलोकन से श्रोता इस निष्कर्ष पहुँचेंगे कि, सर्वबलविशिष्ट-रसमूर्ति 'परात्पर' ही अनन्त ब्रह्म है। इस अन असीम विश्वातीत परात्परब्रह्म के गर्भ में सीमाभाव-सम्पादक अनन्त (असं मायाबल अपनी व्याप्त, अव्यक्त अवस्थाओं से क्रीड़ा किया करते हैं। मर्

मय कैसे समन्वित हो गया ? इसका समाधान करते हुए वेद ने यह तत्त्ववाद सामने रक्खा कि 'वर्षा ऋतु में सभी ऋतुओं का समावेश है'। जब ऊष्मा अर्थात् (ऊमस) बढ़ती है तो वर्षा में प्रत्यक्ष ग्रीष्म का गर्मी का ताप का अनुभव होता है। और वृष्टि के कारण वर्षा के शान्त हो जाने पर शीत-ऋतु का अनुभव होने लगता है। साधारण वृष्टि के अनन्तर शरद् भी छा जाती है। वृष्टि का आरम्भकाल वसन्त का द्योतक बन जाता है। कहना न होगा कि, इसप्रकार केवल वर्षा-ऋतु सब ऋतुओं की अधिष्ठात्री बन जाती है। यही कारण है कि सम्वत्सरात्मक वर्ष शब्द इस एकमात्र वर्षा के साथ युक्त हो गया है। अपिच अन्नोत्पत्ति ही वर्ष की (सम्वत्सर की) प्रतिष्ठा है। जिस वर्ष अन्न नहीं होता, वह वर्ष अकाल किंवा दुष्काल से लाञ्छित है। इधर—

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥
—मनु

इत्यादि मानवीय सिद्धान्त के अनुसार वर्षा ही अन्न की अधिष्ठात्री है। इस प्रकार अन्न की अधिष्ठात्री बनती हुई भी वर्षा-ऋतु वर्ष भर की अधिष्ठात्री बन जाती है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर—शतपथीय श्रुति ने कहा है—

वर्षा ह वै सर्व ऋतवः। अथ-अदो वर्षमभूत्, अदो वर्षमभूत्, इति हि सम्वत्सरान् सम्पश्यन्ति। वर्षा ह त्वेव सर्वेषामृतूनां रूपम्। उत हि तद्वर्षासु भवति-यद् ग्रीष्म इव वाऽमय इति। वर्षादिद्वर्षाः। अथैतदप परोक्षं रूपं-यदेव पुरस्ताद् वाति-तद् वसन्तस्य रूपम्। यत् स्तनयति-तद् ग्रीष्मस्य। यद् वर्षति-तद् वर्षायाः। यद् विद्योतते-तच्छरदः। यद् वृष्ट्वोद्गृह्णाति तद्-हेमन्तस्य। वर्षा हि सर्व ऋतवः। ऋतून् प्राविशन्।

—[illegible]

के रासायनिक सम्मिश्रण की प्रवर्ग्य प्रक्रिया ही यज्ञ है। रासायनिक संयोग में पदार्थ भोक्ता होता है एवं दूसरा पदार्थ भोग्य। भोग्य पदार्थ 'अन्न' नाम से व्यवहृत होता है एवं भोक्ता पदार्थ अन्नाद अर्थात् (अन्न खाने वाला) नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृतिमण्डल को देखिये। अग्नि भोक्ता है, सोम भोग्य। ये दोनों ही तत्त्व ऋत-सत्य भेद से दो-दो भागों में विभक्त हैं। 'स सशरीरं सत्यम्' इस लक्षण के अनुसार जिस वस्तु में केन्द्र एवं पिण्ड, भाव समन्वित रहते हैं वही 'सत्य' कहलाता है। 'अहृदयं अशरीरं च' इस लक्षण के अनुसार जिसमें न कोई केन्द्र हो जिसका न अपना कोई पिण्ड, वही 'ऋत' पदार्थ कहलाता है। सूर्य सत्याग्नि है। क्योंकि सूर्यपिण्ड इस के का शरीर है सूर्य अपना स्वतन्त्र हृदय भी रखता है। चन्द्रमा सत्य सोम है। दक्षिणस्थ वायव्याग्नि ऋताग्नि है। उत्तरस्थ दिक्सोम ऋत सोम है। दक्षि ऋताग्नि में उत्तरस्थ ऋतसोम की आहुति के तारतम्य से वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-हेमन्त-शिशिर-इन ६ ऋतुओं का स्वरूप निष्पन्न हुआ है।

'यस्मिन् काले अग्निकणाः पदार्थेषु वसन्तो (निवसन्तो) भवन्ति व्युत्पत्ति से अग्निवृद्धि की प्राथमिक अवस्था वसन्त नाम से व्यवहृत हुई सूर्य के दर्शपूर्णमासवश से इन दिनों भूमण्डल पर 'मधु' रस की वृद्धि है। 'मधु' रस है। आनन्द है। आनन्दकला अव्ययनाम से प्रसिद्ध पुरु की प्रधान कला है। अतएव यह माधव मास (वैशाख) पुरुषोत्तम मा कहलाया है। मधु सम्बन्ध से ही वसन्तात्मक चैत्र वैशाख मास मधु माधव से व्यवहृत हुए हैं। 'अतिशयेन (अधिकमात्रया) यस्मिन् अग्निकणाः पदार्थान् गृह्णन्ति' इस व्युत्पत्ति से अग्नि की युवावस्था कहलाती है। 'अतिशयेन ऊरु-भवति यस्मिन् काले अग्निकणाः' निर्वचन से अग्निवृद्धि का चरमकाल ही 'वर्षा' कहलाता है। पाणिनीय व्या के अनुसार 'ऊरु' को 'वर्' आदेश हो जाता है, अतएव 'ऊरु' शब्द रूप में परिणत हो गया है। बड़ा ही चमत्कार पूर्ण है यह 'वर्षा' शब्द। मास पूरे सम्वत्सर का है। यही मास इस मासिक अर्थात् वर्षा ऋतु का है। क्यों (। सम्पूर्ण वर्ष से सम्बन्ध रखने वाला 'वर्षा' शब्द केवल वर्षाऋतु

—'अग्निर्भूस्थानः, वायुर्वेन्द्रोऽन्तरिक्षस्थानः सूर्य्यो द्युस्थानः' इस नैरुक्त सिद्धान्त के अनुसार (भू अं द्यु) पृथिव्यादि यज्ञ की वेदि है। यहीं पर यज्ञमात्रिक वेद प्रतिष्ठित है। इस यज्ञमात्रिक वेद के छन्दोवेद वितानवेद–रसवेद–भेद से तीन विवर्त हैं। छन्दोवेद ऋग्वेद है। वितानवेद सामवेद है। एवं रसवेद यजुर्वेद है। छन्दोमय ऋग्वेद पुनः ऋक्–साम–यजु –भेद से तीन भागों में विभक्त है। एवमेव रसात्मक यजुर्वेद भी ऋक्–यजु–साम भेद से तीन भागों में विभक्त है। एवमेव वितानात्मक सामवेद भी ऋक्–यजु–साम–इन अवान्तर भेदों से तीन भागों में विभक्त है। इनमें सर्वप्रथम ऋक्–यजु–साममय ऋग्वेद को ही लक्ष्य बनाइए।

पिण्डवेद ही छन्दोवेद कहलाया गया है। इसी को ऋग्वेद कहा गया है। मूर्तिपिण्ड ऋग्वेद है। इसमें विष्कम्भ परिणाह, एवं विष्कम्भ परिणाह से युक्त वस्तु ये तीन विभाग उत्पन्न हैं। जिसे ज्योतिषशास्त्र व्यास कहता है वही 'मण्डलाम्बष्ठा' नाम से प्रसिद्ध वेदभाषा में विष्कम्भ है जो कि सम्प्रति प्राय की भाषा में 'डायमिटर' नाम से प्रसिद्ध है। आयाम–अर्थात् (लम्बाई), उच्छ्रेय–अर्थात् (ऊँचाई) घनता–अर्थात् (मुटाई) पीवता–अर्थात् (चौड़ाई) ये सब विष्कम्भ के धर्म हैं। वस्तुपिण्ड का परिणाह–अर्थात् चारों ओर का घेरा उस पिण्ड का 'साम' है। घेरे पर–परिणाह पर–वस्तुसीमा समाप्त हो जाती है। अत एव अवश्य ही परिणाह को साम नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। वस्तुपिण्ड के व्यास को यदि त्रिगुणित कर दिया जाय है त्रिगुना कर लिया जाता है तो वह व्यासत्रिगुण वस्तु का परिणाह अर्थात् चारों ओर का घेरा बन जाया करता है। वस्तुपिण्ड का परिमण्डल (चारों ओर का घेरा) उस वस्तुपिण्ड के व्यास से त्रिगुणित होता है यह निश्चित सिद्धान्त है। व्यास ऋक् है–वही त्रिगुणित बन कर परिणाहस्वरूप सामरूप में परिणत हो जाता है। इसी आधार पर साम का 'त्रिवृत् साम' (तीन ऋचाओं का अर्थात् तीन व्यासों का एक साम–एक परिणाह) यह लक्षण हुआ है। यही अवस्था सामवेद की है। जितने समय में एक ऋङ्मन्त्र का उच्चारण होता है यदि उससे त्रिगुणित समय लगा कर उसी ऋङ्मन्त्र का उच्चारण किया जाता है तो पद्यरूप से गीतिभाव में परिणत होती हुई वही ऋक्

इसप्रकार वसन्त—ग्रीष्म—वर्षा—इन तीन ऋतुओं में अग्नि की क्रमशः—बा
युवा-वृद्ध इन तीन अवस्थाओं का उपभोग हो रहा है। तीनों ऋतु अग्नि-ऋतुएँ हैं
देवता आग्नेय-प्राणप्रधान हैं। अतएव 'वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः' के अनुसार इ
को देवता मान लिया गया है। ये ही 'देव-ऋतु' नाम से प्रसिद्ध हैं। आषा
शुक्ल एकादशी देवता—तत्त्व के निद्रा की उपक्रमभूमि है। वर्षा के अन
अग्निकण शीर्ण होने लगते हैं। अतएव 'यस्मिन् काले अग्निकणा शी
भवन्ति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह काल 'शरत्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है
आगे जाकर अग्निकण और भी शीर्ण हो जाते हैं। सर्वथैव हीनभाव को प्राप्त
जाते हैं। अतएव 'यस्मिन् काले अग्निकणा हीनत्वं गता भवन्ति'
व्युत्पत्ति से यह काल 'हेमन्त' कहलाया है। अग्नि के सर्वात्मना क्षीण हो जाने
आगे का काल 'पुनः पुनरतिशयेन वा शीर्णा भवन्ति अग्निकणा यस्मि
काले' इस व्युत्पत्ति से 'शिशिर' नाम से प्रसिद्ध हो गया है। इन तीनों
अर्थात् शरत्—हेमन्त—शिशिर—इन तीन ऋतुओं में सोमतत्त्व का साम्राज्य र
है। एवं सौम्य—प्राण ही पितर हैं। इसी आधार पर—

शरद् हेमन्तः शिशिर'—ते पितर' (शत० २।२।१)

यह प्रसिद्ध है। उपर्युक्त षड्-ऋतु समुच्चय ही सम्वत्सर है। अग्नि
सोममय होने से यही यज्ञप्रजापति है। चराचरात्मक सम्पूर्ण प्रजावर्ग इ
सम्वत्सरात्मक अग्निसोममय दूसरे शब्दों में ऋतुमय यज्ञ से उत्पन्न हुआ है
इसी यज्ञविज्ञान को लक्ष्य में रखते हुए योगेश्वर भगवान् कृष्ण ने कहा है—

सहयज्ञा प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
— गीता ३।१०।

इस सम्वत्सरात्मक अग्नि-सोम-यज्ञ से ही भूपिण्ड की सृष्टि हुई है। एवं इ
से भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित प्रजा की उत्पत्ति हुई है। भूपिण्ड अग्निमय है

अब दूसरे 'विज्ञान' नाम के सामवेद को लक्ष्य बनाइए। इसी को महिमा
। विभूतिवेद भी कहा गया है। यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि, जिसे आप
छूते हैं उसे देख नहीं सकते। तथा जिसे आप देख सकते हैं उसका स्पर्श
कर सकते। स्पृश्यपिण्ड दृश्यपिण्ड से पृथक् है एवं दृश्यमण्डल स्पृश्य
ड से पृथक् है। स्पर्श पिण्ड का हुआ करता है। भूतात्मक वस्तुपिण्डों का
केवल पिण्ड छुआ भर जा सकता है। दृष्टि में वह नहीं आ सकता।
' में आता है उसका वह महिमामण्डल जिसका ज्योतिर्भाग से अभिव्यंजन
ा करता है। इयत्ताभाव उस वस्तु का आत्मा है। पिण्ड स्पृश्य है
हिमा दृश्यमण्डल है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड में से एक प्राण उसके केन्द्र से
कल कर उस वस्तुपिण्ड को केन्द्र बनाता हुआ पिण्ड से चारों ओर बड़ी दूर
। अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाया करता है। इसी महिमामण्डल को साम
ा जाता है। पिण्डावच्छिन्न मात्रा ही वितत होकर (फैल कर) महिमामण्डल
रूप में परिणत होता है। एक वस्तुपिण्ड को अपने सामने रख लीजिए।
स पर अपनी दृष्टि रखते हुए आप उससे पीछे हटते जाइए। ज्यों ज्यों आप
छे हटते जायेंगे त्यों त्यों उत्तरोत्तर वस्तुपिण्ड छोटा दिखलाई देने लगेगा। हटते
टते जब आपको वह वस्तुपिण्ड सूक्ष्म बिन्दुमात्र दिखलाई देने लगे उस स्थान
र आप खड़े हो जाइये। वहाँ से वस्तुपिण्ड को केन्द्र मान कर आप अपने
ध्यान में एक वर्तुल वृत्त बना डालिए। यही 'उक्थ' नाम का अन्तिम साम
मा। यहाँ वस्तुसीमा समाप्त है। यदि आपकी दृष्टि इससे बाहिर निकल जायगी, तो
ष वह वस्तु आप से तिरोहित हो जायगी। इसी आधार पर सामतत्त्ववेत्ता
र्षि तारक्ष्य ने अन्तिम साम को 'निधन' साम नाम से व्यवहृत किया है। इस
ाम पर कितने भी मनुष्य खड़े होंगे सबको आगत मूर्तिपिण्ड समानाकार दिखाई
ाग। इसी आधार पर इस साम का 'समा सर्व मेन' यह लक्षण किया जाता
। यह साम उस रूप प्रजापति की विभूति है। अतएव विभूतियोगाध्याय में
पनी विभूतियों का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् ने 'वेदानां सामवेदोऽस्मि'
ह कहा है। आप साममण्डल को देखते हैं न कि वस्तुपिण्ड को। वस्तुपिण्ड
ा तो आप केवल स्पर्श कर सकते हैं। दृश्यात्मक इस सामवेद में भी तीनों वेदों

पार्श्वबिन्दु इतिरथं उत्तर उत्तर का व्यास तीन तीन बिन्दु छोटा होता जाता है। ...नोत्तर वस्तु क्यों छोटी होती जाती है ?, इसका यही समाधान है। इस व्यास दोनों ओर साथ ही साथ सीमाभाव बनता जाता है। जैसे ऋक् (मूर्ति) ... होती जाती है ठीक इस के विपरीत साम (मण्डल) उत्तरोत्तर ... होता जाता है। इसी आधार पर ऋक्-साम का ब्राह्मणग्रन्थों में 'परोऽहृत्व:-' र-वर्ष्मा:' यह लक्षण किया गया है जो कि पारिभाषिक बड़े ही रहस्यपूर्ण शब्द ... इन दोनों के अतिरिक्त व्यास का मध्यबिन्दु (केन्द्र-आत्मा) जो कि कुक्षिमाव से ऋजुभाव से सीधा गमन करता है वही यजुर्वेद है। इसप्रकार ... सीयसी व्यक्ति ही ऋक् वरीयसी व्यक्ति ही साम एवं 'यस्य समयमात्रा:, ...दुष्यसु:, इन लक्षणों के अनुसार रसवेदात्मक यजुर्वेद में भी तीनों वेदों का ...पभोग सिद्ध है।

१—रसवेद'—यजुः

...दिरथं यजुर्वेदे वेदत्रयोपभोग

१—ह्रसीयसी-व्यक्तिः—ऋक्

२—वरीयसी-व्यक्ति—साम

३—यस्य ह्र० व० मात्रौ—तद्वस्तु यजुषि

छन्दोवेद, वितानवेद, रसवेद, तीनों की समष्टि से पदार्थ का स्वरूप निष्पन्न ...आ है। यद्यपि इस विषय में अभी बहुत कुछ वक्तव्य है। तथापि इस सामान्य वक्तव्य में इससे अधिक निवेदन करना अधिक विस्तार का अनुगमन करना ...होगा। उपर्युक्त तीनों वेदों का इसमें पृथक् पृथक् स्वरूप बतलाया है। परन्तु यह स्मरण रखिए कि ये तीनों वेद एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। तीनों के समुच्चय से ही वेदतत्त्व का स्वरूप निष्पन्न होता है, यह उपर्युक्त वेदतत्त्व के आलोचन-विलोकन से स्पष्ट है।

उपर्युक्त वेदस्वरूप-निरूपण से श्रोताओं को यह भलीभांति ज्ञात हो गया होगा कि, विश्व के व्यक्ताव्यक्तात्मक तथा अव्यक्ताव्यक्तात्मक सम्पूर्ण पदार्थ वेदस्वरूप हैं।

का उपभोग हो रहा है। जिस मण्डल का ऊपर दिग्दर्शन कराया गया है, महामण्डल के भीतर अनेक अवान्तर मण्डल बन जाया करते हैं। इन मण्ड सामात्मक पूर्व पूर्व मण्डल उत्तर उत्तर मण्डल की अपेक्षा ऋक् है। उत्तर मण्डल पूर्व पूर्व मण्डल की अपेक्षा साम है। एवं जिस वस्तु का प एवं उत्तर मण्डल है उभयविध मण्डलावच्छिन्न वह वस्तु ही यजु है। इ विज्ञानवेदात्मक ब्रह्मवेद में—

१—"सामात्मकं-पूर्वं पूर्वं मण्डलं-ऋक्

२—सामात्मकं उत्तरोत्तर मण्डलं-साम

३—बिन्द्वात्मकेन समन्ततो व्याप्तं वस्तु-यजूंषि" इन

तीनों वेदों का उपभोग हो रहा है।

अब क्रमप्राप्त तीसरे यजुर्वेदात्मक 'रसवेद' को लक्ष्य बनाइए। ऋक् म मण्डल साम है। दोनों वयोनाध (आयतन) मात्र हैं। मण्डल, और प परिच्छिन्न (खण्डित-सीमित) वस्तुतत्त्व ही रस है। रस की ही उपलब्धि होने यही वास्तविक वेद है।

इस वस्तुरूप रसात्मक यजुर्वेद में भी तीनों वेदों का उपभोग हो रहा है। वस्तु हमें छोटी बड़ी दिखाई देने लगती है। इसकी समाधानभूमि यही यजुर्वे समान आकार वाले दो दरवाजों का निर्माण कराइए। उनसे अन्य द्वार के मध्य में खड़े हो कर दृष्टि डालिये आपको आगे आगे के द्वार छोटे देने लगेंगे। सबसे अन्त का (पीछे का) दरवाजा बिल्कुल छोटा दिखाई जबकि सब दरवाजे समान हैं तो फिर इस वैषम्य का क्या कारण है, इसका भी यही पूर्वोक्त यजुर्वेद है। वस्तुतत्त्व ऋगुभाग के कारण वर्त्ममूल के द्वारा कें बिन्दु उत्तरोत्तर छोटा होता जाता है। स्मरण कीजिए। इसमें व्यास को ह्र है। इस व्यास का मध्यस्थ भाग आगे जाकर केन्द्र बन जाता है। अर्थात् के केन्द्र के पार्श्ववर्ती दो बिन्दु आगे के व्यास के केन्द्रबिन्दु बना करते हैं केन्द्रबिन्दु आगे के व्यास का हृदय बन जाता है। एवं केन्द्रबिन्दु

र्गों का दिग्दर्शन कराया गया है, उनका ३-३ के विभाग से एक एक
म अर्थात् राशि बन जाया करती है। केन्द्र में तीन (३) अहर्गणों
मूल मान कर उनमें ६ अहर्गण मिलाने से त्रिवृत्स्तोम अर्थात् ९ वें अहर्गण
न्त व्याप्त अग्नि का स्वरूप सम्पन्न होता है। और ६-अहर्गणों के समन्वय
पञ्चदश (पन्द्रह) स्तोम का स्वरूप निर्मित होता है। इन में पुनः ६ के
न्वय से एकविंश (इक्कीस) स्तोम की निष्पत्ति हुई है। और ६ के समन्वय
त्रिणवस्तोम-स्वरूप अर्थात् २७ संख्यायुक्त स्तोम का स्वरूप प्रतिष्ठित है।
इन में पुनः और ६ के समन्वय से त्रयस्त्रिंश, अर्थात् ३३ स्तोमात्मक
र्गण का स्वरूप निष्पन्न हो जाता है। साथ ही में ३३ अहर्गणात्मक सम्पूर्ण
डल का केन्द्रस्थान एक स्वतन्त्र केन्द्रस्थान १७ वाँ अहर्गण बनता है।
स प्रकार हृदयस्थ भाग अनिरुक्त प्रजापति कहलाया है इसी प्रकार त्रिवृद्गर्भित
सम्वत्सर को अपने उदर में प्रतिष्ठित रखने वाला ३४ अहर्गणात्मक प्रजापति
र्भप्रजापति' कहलाया है। ठीक इसी प्रकार यह संवत्सरप्रजापति इस त्रयस्त्रिंश-
हर्गणात्मक महासम्वत्सर का केन्द्र बनता हुआ 'उद्गीथप्रजापति' नाम से
सिद्ध है। इसप्रकार त्रिवृत् पञ्चदश, सप्तदश एकविंश त्रिणव त्रयस्त्रिंश,
र से त्रिवृत्केन्द्र से निकल कर ३४ वें अहर्गण पर्यन्त व्याप्त रहने वाले
नःप्राणगर्भित प्राजापत्य वाक्तत्त्व के ६ स्वतन्त्र स्तोम-विभाग हो जाते हैं। ये ही
वाक्तत्त्व के वषट्कार है, अर्थात् ६ विभाग है। वाक् के इन वषट्कारों का ही
ाम वाक्वषट्कार है यही वौषट्कार है। वौषट्कार ही वषट्कार है। इस
षड् धामात्मक वषट्कार के त्रिवृत्स्तोम-पर्यन्त घनावस्थापन्न प्राणाग्नि प्रतिष्ठित
है जिसे कि हम निबिड़ावस्थापन्न अग्नि कह सकते हैं। पञ्चदश (१५)
स्तोम-पर्यन्त तरलावस्थापन्न प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है। इस तरलावस्थापन्न अग्नि
को अग्नि नाम से व्यवहृत न कर वायु नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। एवं
एकविंश स्तोम-पर्यन्त विरलावस्थापन्न प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है। इसे आदित्य,
अर्थात् इन्द्र नाम से व्यवहृत किया गया है। आदित्य ज्ञानशक्ति का अधिष्ठाता
बन कर अध्यात्मदृष्टि से 'प्राज्ञ' एवं अधिदैवतदृष्टि से 'सर्वज्ञ' नाम से प्रसिद्ध
हो रहा है। पञ्चदशस्थ वायु (तरलाग्नि) क्रियाशक्ति का अधिष्ठाता बनता हुआ
अध्यात्मदृष्टि से तैजस एवं अधिदैवतदृष्टि से 'हिरण्यगर्भ' नाम से प्रसिद्ध

वस्तुस्वता वेद-सत्ता पर निर्भर है। शशश्रृङ्ग, वन्ध्यापुत्र, मृगमरीचिका, खपुष्प उपलब्ध नहीं होते ? इन सब का उत्तर यही वेद है। जिस वस्तु का वेद है वस्तु उपलब्ध होती है। उपलब्धि ही वेद है, यह पूर्व में स्पष्ट किया ही जा है। वेदि पर वेद प्रतिष्ठित है एवं वेद पर यज्ञ प्रतिष्ठित है। वेदतत्त्व अग्नि-त्मक है। यह अग्नितत्त्व मर्त्य अमृत-भेद से दो भागों में विभक्त है। अग्नि प्राणाग्नि है यही देवता है। यह स्मरण रखिए कि, हमारे यहाँ प्राय: प्राण सर्वत्र 'देवता' नाम से व्यवहृत किया गया है। मर्त्याग्नि भूताग्नि है। भूता पिण्ड बनता है—प्राणाग्नि महिमामण्डल का अधिष्ठाता बना करता है। फेन मृत् सिकता शर्करा, अश्मा, अय: हिरण्मयम् इन आठ भूतों से पृथिवीपिण्ड का निर्माण हुआ है। पृथिवी का गोला भूताग्निमय है। प्रतिष्ठित रहने वाला अमृताग्नि अर्थात् प्राणाग्नि, अर्थात् देवाग्नि केन्द्र से निकल कर भूपिण्ड को चन्द्र बनाता हुआ बहुत दूर तक अपना मण्डल है। यही बहिर्मण्डल वैदिक परिभाषा के अनुसार 'वषट्कार' नाम से प्रसिद्ध पिण्ड से निकलने वाला प्राणतत्त्व 'गौ' है। यह स्वरूपतः विभक्त है। प्रकार व्यवहार के लिये प्रत्येक वस्तु व वृत्त के २१ अंश माने जाते हैं, १ का भाग माना जाता है, एवं १ १ अंश की एक एक संख्या मान ली है। ठीक इसी प्रकार वेदविज्ञान की जगत् संगति के लिये, दूसरे शब्दों विज्ञानतत्त्व को सुव्यवस्थितरूप से समझने के लिये ऋषियों ने व्यापक प्राणरूप गोतत्त्व के तीस-तीस गौ के हिसाब से २१ विभाग मान लिए पूर्वोक्त २१ विभागों में ६३ प्राणगौ-तत्त्व संगृहीत हो जाती हैं। गौ प्रजापति २४ वाँ प्रजापति कहलाता है। उपर्युक्त २१ विभाग परि दृष्टिकोण से 'अहर्गण' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। २१ में अहर्गण पर पृथिवी का निवनधाम है। पृथिवी के २१ में अहर्गण पर सूर्य प्रतिष्ठित है। विज्ञान के आधार पर हमारे पुराणशास्त्र में पृथिवी के पुष्करद्वीप में स मानी है। पृथिवीपिण्ड से निकलने वाला अग्नितत्त्व पदार्थों की तर ध्रुव-धत्र-धरुण-अवस्थाओं के कारण, जो कि अवस्थाएँ घन-तरल नामों से प्रसिद्ध हैं निविडावयव-तरलावयव-वाष्पावयव-इन नाम प्रसिद्ध हैं, इन तीन अवस्थाओं में परिणत हो जाता है। ऊपर जिस

काण्वस्य शतपथ के आख्यानाख्यान में इन चार अग्नियों से अग्नि ही अभिप्रेत है। अग्नि ही वायु है अग्नि ही आदित्य है। आपोमण्डल में प्रविष्ट अग्नि ही वरुण किंवा सोम है। ऐसी अवस्था में चारों तत्त्वों का एकमात्र अग्नि तत्त्व में ही पर्य्यवसान माना जा सकता है माना गया है। अग्नि, वायु, आदित्य एवं वरुण की प्रतिष्ठारूप ऋक्-यजुः साम-अथर्व-भेदभिन्न चारों वेद अग्निरूप ही हैं। यह अग्नितत्त्व त्रिवृत् नाम से प्रसिद्ध है। त्रिवृत् का अर्थ 'नव' है। अग्नितत्त्व नवधा विभक्त होने से ही त्रिवृत् कहलाता है। अग्नि के इसी त्रिवृद् भाव का निरूपण करते हुए श्रुति ने कहा है—

"सोऽकामयत। भूय एव स्यात्, प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपान —फेनमसृजत, मृद्, शुष्काप्य, ऊष-सिकतं शर्करां, अश्मानं, अयं, हिरण्यं, ओषधिवनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्। ता वा एता नव सृष्टयः। इयम सृज्यत। तस्मादाहुस्त्रिवृदग्नि"। (इयं—पृथिवी)—इय अग्नि।

—शत ६।१।१।१२-१३

इसी आधार पर मूल संख्या की समाप्ति नव पर ही मान ली गई है। ९ संख्या की आधारभूमि पूर्णरूपा (बिन्दुरूपा) प्रथमा संख्या है। उस प्रथमा संख्या पर नव-संख्या-युक्त अग्नि प्रतिष्ठित है। इस एक संख्या के समन्वय से नवकल अग्नि दशकल हो जाता है। यह दशकल अग्नि मर्त्य अग्नि है। यही १ कलाएँ अमृताग्नि हैं। इन दोनों के ग्रन्थि-बन्धन से आगे की वेदसंहिताओं का स्वरूप निष्पन्न हुआ है जैसा कि कुछ स्पष्ट करने का आगे प्रयास किया जायगा।

प्रथम दशकल अग्नि में से एक संख्या का ऋण कर डालिए। ऋणमात्र ही 'रिक्त (मान) है रिक्तमात्र ही ऋण है। यही नवधा विभक्त वारुणाग्निरूप अथर्व-वेद है। १ मर्त्याग्नि १ अमृताग्नि में एक धन अर्थात् वृद्धि कर दीजिए। यही

ही रहा है। एवं त्रिवृत्स्तोमस्थ अग्नि, अर्थात् घनाग्नि अर्थशक्ति का अधि करता हुआ अध्यात्मशक्ति से यहाँ 'वैश्वानर' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, यहाँ अधिदैवतदृष्टि से 'विराट्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। ज्ञान क्रिया अर्थ-इन शक्तियों के अधिष्ठाता आदित्य-वायु-अग्नि तीनों देवता मनःप्राणवाक् हृदयस्थ ब्रह्म के विकास में त्रैलोक्य के निर्माता बन रहे हैं। ये ही तीनों दे केनोपनिषत् के मुख्य पात्र हैं। त्रियस्त्रिंश अर्थात् तेत्तीसवें (१७) में भास्वर सोम प्रतिष्ठित है। एवं त्रयस्त्रिंशत्स्तोम अर्थात् तैंतीसवें (१ अहर्गण में ब्रह्मणस्पति नाम से प्रसिद्ध पवित्र दिक्सोम प्रतिष्ठित है। इस पृथिवी के ११ अहर्गणा पर्यन्त ६, १५, २१ २७ ३३ इस क्रम से अ वायु, आदित्य भास्वरसोम दिक्सोम ये पाँच प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। पाँचों की प्रतिष्ठा यही यज्ञमात्रिक नाम से प्रसिद्ध वेदतत्त्व है। 'स एवं यज्ञ कृत्वा मर्त्यं तनवामहे'—के अनुसार इसी अग्नीषोमात्मक यज्ञ के द्वारा पार्थिव यज्ञमात्रिक वेदतत्त्व का वितान हुआ है विस्तार हुआ है, उत्प हुआ है।

ऋग्वेद अग्नि की प्रतिष्ठा है। इसी ऋक् से ऋग्वेदी होतृकर्म करते हैं। यजुर्वेद वायु की प्रतिष्ठा है। इसी यजुः से यजुर्वेदी आध्वर्यव सम्पन्न करते हैं। सामवेद आदित्य की प्रतिष्ठा है। इसी साम से सामवेदी हुए आदित्य औद्गात्र की इतिकर्तव्यता पूरी कर रहे हैं। एवं अथर्व सोम (ब्रह्म की प्रतिष्ठा है। यही इस प्राकृतिक नित्य यज्ञ के ब्रह्मा हैं। इसी प्राकृतिक यज्ञ सुसम्पन्न बनाने के लिए यह पार्थिव वेदतत्त्व "यज्ञमात्रिक" नाम से प्रसिद्ध है। इसी यज्ञमात्रिक वेद का स्वरूप बतलाते हुए ब्रह्मतत्त्ववेत्ता राजर्षि मनु कहा है—

> अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
> दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥
>
> —मनुः

जिसे हमने सोम कहा है वह भी अग्नि ही है। पानी में प्रविष्ट आग्नेय नाम है। 'अपुर्दो विदिरः' इ वा स्य आग्निरास इ पारिक्य ने प्र

समुद्रादर्णवादधि सम्वत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

—ऋक्संहिता १०।१९०।१-२-३ । क्ष ।

उक्त मन्त्रश्रुति के अनुसार प्रजापति के तप से अर्थात् मनःप्राण-वाङ्मय श्रम—तप—श्रम से ऋतम्सत्य उत्पन्न हुए हैं । दूसरे शब्दों में पुरुषप्रजापति (सप्तपुरुषपुरुषात्मक अव्ययप्राणमूर्ति स्वयम्भू प्रजापति) का ही अर्द्ध भाग सत्य बना है एवं अर्द्ध भाग ऋत बना है । सत्यात्मक भाग तप से एवं ऋतात्मक श्रमभाग से ही त्रैलोक्य एवं तत्स्था प्रजा का विकास हुआ है । 'अर्द्धमस्याशरीरं ऋतम् – अर्द्धं सशरीरं सत्यम्' में ही ऋत-सत्य के वैज्ञानिक लक्षण हैं जो पूर्व में भी निर्दिष्ट हैं ।

क्ष—"ऋषिप्राणात्मक श्री समष्टिरूप सप्तपुरुष-पुरुषात्मक प्रजापति के वाङ्मय श्रम से अनुप्राणित तप से तथा मनोमय सन्तपन से अभीद्ध-मयपदरूपात्म प्रदीप्त बने हुये तप से सर्वप्रथम ऋतसत्य-रूप ब्रह्म एवं सुब्रह्म तत्त्व का प्रादुर्भाव हुए । इससे वारुणीरात्रिरूप परमेष्ठी का आविर्भाव हुआ । इससे रोदसी-त्रिलोकी का स्वरूप-सम्पादक अर्णवसमुद्र उत्पन्न हुआ । इस अर्णवसमुद्र के आधार पर सौर सम्वत्सर का आविर्भाव हुआ । तदनुगत अहोरात्र व्यक्त हुए । तत्साक्षीभूत सूर्य-चन्द्रमा अभिव्यक्त हुए । और यों पृथिवी-अन्तरिक्ष-(चन्द्रमा) द्यौ (सूर्य), एवं 'स्वः' रूप परमेष्ठी-इन चार लोकों से विश्वस्वरूप व्यवस्थित बना" । इस मन्त्रत्रयी का विराट् वैज्ञानिक समन्वय 'पञ्चपर्वात्मिका-विश्वविद्या' नामक स्वतन्त्र वक्तव्य में ही देखना चाहिए ।

मायाक्न मरखकत्व यजुर्वेद है। तीनों का अधिष्ठाता ब्रह्मसोम ... है। रहस्य को शब्द में रख कर भगवान तित्तिरि ने कहा है—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः—
सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् ।
सर्वं तेजः सामरूप्य ह शश्वत्
सर्व इदं ब्रह्मणा (अथर्ववेदेन) हैव सृष्टम् ।
—तै० ब्रा०३।१२।९।१

तत्त्ववेदानुगत मौलिक शाखावेद का (एवं तदनुगत शाखावेद का) और भी स्पष्टीकरण कर दिया जाय। यह सर्वात्मना संसिद्ध है पूर्व के निरू कि शब्दात्मिका वेदशाखाओं का मूलकारण अग्नीषोमात्मक तत्त्वात्मक ही है। अग्नि-सोम-का विन्यास ही तत्त्वात्मक वेदशाखा-विभाग का है। एवं निरूप्य वेदशाखा-विभाग ही निरूपक शब्दवेदशाखा-विभ कारण है। तत्त्वात्मक वेदशाखानुबन्धी जिस अग्नि-सोम-विकास का पूर्व में दर्शन कराया गया है वह अभी अपूर्ण है। अथवा विभिन्न दृष्टिकोण से रखने वाला है। अतएव आवश्यक है कि अग्नि-सोम-विकास का स्वरूप भी संक्षेप से दो शब्दों में उपस्थित कर दिया जाय।

"शून्यमभ्यत्-स्थान -पूर्णमभ्यत-स्थानम्" इस विज्ञान-सिद्धान्त के सार अमृतमृत्युमय तत्त्वात्मक सत्यलक्षण अनिरुक्तनिरुक्तमूर्ति, कर्मानुगत, सृष्टिसाक्षी प्रजापति का 'शून्य' एक स्वतन्त्र स्थान माना गया पूर्ण एक पृथक् स्थान माना गया है। विज्ञानियों का कहना है कि प्रजा अपने शून्य-पूर्ण-भावों के समन्वय से ही प्रजोत्पत्ति की है। अतएव प्रजात्मक प्रत्येक पदार्थ शून्य, एवं पूर्ण दोनों भावों से नित्य समन्वित है। प्रजा प्रजापति की ये शून्य-पूर्ण विभूतियाँ ऋत-सत्य नामों से प्रसि ऋतं शून्यम् 'सत्यं पूर्णम्' ।

ऋतञ्च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो ... ॥१॥

इस सूक्ष्म-पूर्वविवेचन से प्रकृत में केवल यही मन्तव्य है कि, पूर्वलक्षण अग्नि के विकास की मूलप्रतिष्ठा सूक्ष्मलक्षण अप् तत्त्व आप ही बनते हैं। अप्-गर्भ प्रविष्ट सत्याग्नि ही विकसित होता है। उदाहरण के लिए शारीराग्नि-विकास को ही लीजिए। 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इस छान्दोग्य सिद्धान्त के अनुसार आपमय आप ही हमारे पाञ्चभौतिक शरीर के स्वरूप बनते हैं। आपगर्भ में ही शारीराग्नि की स्थिति होती है इसी अग्निस्थिति से शरीरपिण्ड का विज्ञान-लक्षण विकास होता है। दैनिक शारीराग्निचयन में भी अप्-लक्षणा अन्नाहुति ही अग्निविकास का कारण बन रही है। स्नान से शारीराग्नि तीव्र हो जाता है यह सार्वजनीन है। सृष्टिकाल में इसी आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में अग्नितत्त्व बीजरूप से प्रकट होता हुआ अन्त में वीर-संस्थात्मक परिणत होता है जैसाकि—

सोऽभिध्याय शरीरात्-स्वात्-सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥

—मनु

इत्यादि मानवीय वचन से स्पष्ट है। जिस प्रकार अप्तत्त्व के गर्भ में प्रतिष्ठित अग्नि विकसित होता है एवमेव इस गर्भाग्नि के सम्बन्ध से परिस्थितरूप स्वयं अप्तत्त्व का भी विकास हुआ है। आपतत्त्व वरुणरूप है स्नेहगुणक बनता हुआ यह संकोचधर्मा है। तथापि गर्भस्थ तेजोगुणक अतएव विकासधर्मा अग्नि के सहयोग से इस आप को भी विकासावस्था में आना पड़ता है इस प्रकार गर्भस्थ अग्नि के सम्बन्ध से विकासभाव में आने वाले ये आपः ६ भागों में विभक्त हो जाते हैं। फलतः अप्तत्त्व का ६ प्रकार से विकास हो रहा है।

मान लीजिए—अभी अप्तत्त्व का विकास नहीं हुआ, अभी यह अपने स्वाभाविक सूक्ष्मलक्षण शून्यभाव में ही परिणत है। अग्नि इसके गर्भ में प्रविष्ट हुआ। फलतः इसमें विकासक्रिया का आरम्भ हुआ। इस विकासक्रिया से ही 'वायु',

शून्य-पूर्णात्मक ये शुक्र-सत्यभाव से ही आपके सुपरिचित अग्नि और है (आप) है। अग्नि-अन्न है यह अपने आग्नेयभाव से पूर्ण है। अपूतत्त्व है यह अपने आपोभाव से शून्य है। शून्य-शुक्र-आपतत्त्व पूर्णता का प्रवर्त्तक है पूर्ण-अन्न-आग्नितत्त्व शून्य का प्रवर्त्तक है। अपूतत्त्व ही क्रम में घनविरलभाव में परिणत होता हुआ सत्याग्नि बन जाता है एवं क्रमशः अग्नि विकास की चरम सीमा पर पहुँच कर शुक्रापः बन जाता है। इसी आधार पर शून्य अर्थात् आप को पूर्ण अग्नि का, एवं पूर्ण को शून्य का प्रवर्त्तक माना है। अतएव-'यद्वै-न्यूनं तत्पूर्णं यत्-पूर्णं तन्न्यूनम्' यह लोकसिद्ध आम्नाय चरितार्थ बनता है। इसका तात्पर्य लोकभाषा में यही है कि जो अधूरा है-पूरा है एवं जो पूरा है-वह अधूरा है। क्या रहस्य है इसका ! । अभी इस प के विश्लेषण का यहाँ अवसर नहीं है। केवल यही जान लेना पर्याप्त होगा कि 'यद्वै न्यूनं तत्पूर्णम्। यत् पूर्णं-तन्न्यूनम्' इस वैदिक-विज्ञान के सिद्धा को अपनी आचारमीमांसा में व्यवहृत करने वाली यहाँ की जनता इस सम्बन्ध को सुरक्षित रखने के लिए विश्वकर्मानुबन्ध में सर्वत्र अपूर्ण संख्या को ही प्रधानता दिया करती है। सुप्रसिद्ध है कि-दक्षिणा-दान में ११-२१-१ १ १-इसप्रकार अपूर्णता कर दी जाती है एक संख्या अधिक करो जिसका तात्पर्य यही है कि, आगे सम्बन्ध टूट न जाय अपितु प्रबन्ध यही कारण है कि, श्राद्धादि कर्मों की जो दक्षिणा है वह पूर्ण ही दी जाती क्योंकि आगे पुनः पुनः अभीप्सित नहीं है मानव को।

पूरी संख्या अधूरी है, अधूरी संख्या पूरी है। भूमा का नाम पूर्णता अल्पता का नाम अपूर्णता है। १०-२ -४ -५ -१ -१ -इत्यादि संख्याओं में विरामभाव का समावेश है आगे विकास का अभाव है इसी लक्षणा पूर्णता का अवरोध है। यही अल्पता है एवं यही इन पूर्ण संख्याओं की अपूर्णता है। ११ २१-५१-१ १-१ १-इत्यादि अपूर्ण संख्याओं में विकास का समावेश है अनुविकासरूपा पूर्णता प्रतिष्ठित है यही इनकी पूर्णता यही कारण है कि, दानकर्म में दानद्रव्य की संख्या सदा अपूर्ण दी जाती है। केवल पितृकर्म (श्राद्धकर्म) में पूर्ण दक्षिणा का विधान हुआ है।

इस शून्य-पूर्णविवेचन से प्रकृत में केवल यही प्रयोजन है कि, पूर्णतत्त्व अग्नि के विकास की मूलप्रतिष्ठा शून्यभाव रूप आप ही बनते हैं। अप्-गर्भ में प्रविष्ट सत्याग्नि ही विकसित होता है। उदाहरण के लिए शारीराग्नि-विकास ही लीजिए। 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार स्नात्मक आप ही हमारे पाञ्चभौतिक शरीर के आरम्भक बनते हैं। अपूगर्भ में ही शारीराग्नि की स्थिति होती है इसी अग्निस्थिति से शरीर का विकास-लक्षण विकास होता है। दैनिक शारीरयाग्निकर्म में भी अप्-रूपा अन्नाहुति ही अग्निविकास का कारण बन रही है। स्नान से शारीराग्नि प्रदीप्त हो जाता है यह सार्वजनीन है। सृष्टिचक्र में इसी आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में अग्नितत्त्व बीजरूप से प्रवृत्त होता हुआ अन्त में सौर-संस्थारूप परिणत होता है जैसाकि—

> सोऽभिध्याय शरीरात्-स्वात्-सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
> अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥
>
> —मनु

इत्यादि मानवीय वचन से स्पष्ट है। जिस प्रकार अप्तत्त्व के गर्भ में प्रतिष्ठित अग्नि विकसित होता है एवमेव इस गर्भाग्नि के सम्बन्ध से परिमितरूप स्वयं अप्तत्त्व का भी विकास हुआ है। अप्तत्त्व स्वरूपतः से स्नेहगुणक बनता हुआ यद्यपि संकोचधर्मा है, तथापि गर्भस्थ तेजोगुणक अतएव विकासधर्मा अग्नि के सहयोग से इस आप को भी विकासावस्था में आना पड़ता है इस प्रकार गर्भस्थ अग्नि के सम्बन्ध से विकासभाव में आने वाले ये आप ३ भावों में परिणत हो जाते हैं। फलतः अप्तत्त्व का ३ प्रकार से विकास हो रहा है।

मान लीजिए-अभी अप्तत्त्व का विकास नहीं हुआ, अभी यह अपने स्वाभाविक अव्यक्तरूप शून्यभाव में ही परिणत है। अग्नि इसके गर्भ में प्रविष्ट हुआ। फलतः इसमें विकासक्रिया का आरम्भ हुआ। इस विकासक्रिया से ही 'वायु',

१—(१)-आपः—विकासात् पूर्वरूपम्-शून्यस्थानम् (सत्यम्)

२ १ (२) वायुः—प्रथमो विकासः —पूर्ण स्थानम् (सत्यम्)

३-२ (३)-सोम—द्वितीयो विकासः —पूर्ण स्थानम् (सत्यम्)

४-३ (१)-अग्नि—तृतीयो विकासः—पूर्ण स्थानम् („)

५-४ (२)-यमः—चतुर्थो विकासः—पूर्ण स्थानम् („)

६-५ (३)-आदित्यः-पञ्चमो विकासः—पूर्ण स्थानम् („)

उक्त विकासक्रम का दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। जिस बिन्दु से विकास का आरम्भ होता है वह बिन्दु उत्तरभावी विकास का शून्यरूप है। इसी शून्यभाव के कारण इस पूर्वरूप को हम चतुर्थ लक्षण 'अरूपरूप' कहेंगे। इस अरूपात्मक शून्यरूप का नाम 'आपः' है। इस शून्यरूप से जो पहिला विकास हुआ वही 'वायु' है। वायुलक्षण इस प्रथम विकास में विकास की एक मात्रा (१) का समावेश है। एकमात्रिक वायुविकास का द्वितीय विकास 'सोम' है। इसमें विकास की दो (२) मात्राएँ हैं। आपः वायु-सोमः' इन तीन स्थानों में हो आप् का स्वरूप सुरक्षित रहता है। जब द्विमात्रिक सोम का तृतीय विकास होता है तो वह आपः अङ्गिरा-रूप में परिणत हो जाता है जो कि अङ्गिराभाव अपतत्वापेक्षया सर्वथा अपूर्व धर्म है। अपतत्व की आपः, वायुः, सोमः ये तीनों अवस्था स्नेह धर्म से युक्त थी, परन्तु अङ्गिरात्रयी तेजोधर्म से युक्त हो जाती है। इसी धर्मवैलक्षण्य से गतिवैलक्षण्य उत्पन्न हो जाता है। भृगुत्रयी जहाँ आपःस्थितिधर्मवती है, वहाँ अङ्गिरात्रयी गतिधर्मावच्छिन्ना बन जाती है। साथ ही यह भी स्मरण रखने की बात है कि तृतीय विकास में आपोमयाग्नि सोम अङ्गिरारूप में तो परिणत हो जाता है। परन्तु सत्यसप्तमण्डल से सम्बद्ध अपने 'सत्य' का परित्याग नहीं करता। इसीलिए तो आप् का भृगुवत् अङ्गिरा के साथ भी सम्बन्ध मान लिया है। तीनों भृगु, एवं तीनों अङ्गिरा, सभी 'आपः' हैं। अमृतत्व के दो भृगु अङ्गिरा-भेद से दो भेद-विभाग हैं।

संख्याओं से युक्त है । इस प्रथम स्थानीय प्रथम विकास की मूलप्रतिष्ठा बिन्दु है एवं चरम सीमा नवमी संख्या है । “१–२–३–४–५–६–७–८–९” यही इस प्रथम विकास का व्याप्तिस्थान है । (१) । प्रथम विकास की सीमा ९ संख्या है । इसको आधार मान कर उसी शून्य को मूलप्रतिष्ठा बनाते हुए द्वितीय विकास का आरम्भ होता है यही दशमस्थान है द्विमात्रिक यह द्वितीय विकास ९९ संख्याओं में विभक्त है । द्वितीय स्थानीय इस द्वितीय विकास की चरम सीमा नवनवति (निन्यानवी) संख्या है । “१०–११–२१–३१–४१–५१–६१–७१–८१–९१” यही इस द्वितीय विकास का व्याप्तिस्थान है । (२) ।

द्वितीय विकास की सुविधा ९ संख्या है । इस को आधार मान कर उसी शून्य को मूल प्रतिष्ठा बनाते हुए तृतीय विकास होता है यही तृतीय विकास है । त्रैमात्रिक यह तृतीय विकास ९ ९ संख्याओं से युक्त है । तृतीय स्थानीय इस तृतीय विकास की चरम सीमा ९ ९ वीं संख्या है । “१ –१ १–१ २–१ ४–१ ५ १ ६–१ ७–१०८–१ ९” यही इस तृतीय विकास का व्याप्तिस्थान है । तृतीय विकास की सुविधा ९ संख्या है । इस को आधार मान कर उसी शून्य को मूलप्रतिष्ठा बनाते हुए चतुर्थ विकास होता है यही सहस्र स्थान है । चतुर्मात्रिक यह चतुर्थ विकास ९९९ संख्याओं से युक्त है । चतुर्थ स्थानीय इस चतुर्थ विकास की चरम सीमा नौसौ निनानवीं संख्या है । यही इस चतुर्थ विकास का व्याप्तिस्थान है । इन चरम विकासों में परिणत हो कर इसप्रकार एक ही मूलतत्त्व चार संख्याओं में विभक्त हो रहा है ।

संख्याओं से युक्त है । इस प्रथम स्थानीय प्रथम विकास की मूलप्रतिष्ठा शून्यबिन्दु है एवं चरम सीमा नवमी संख्या है । "१–२–३–४–५–६–७–८–९" यही इस प्रथम विकास का व्याप्तिस्थान है । (१) । प्रथम विकास की चिति १ संख्या है । इसको आधार मान कर उसी शून्य को मूलप्रतिष्ठा बनाते हुए द्वितीय विकास का आरम्भ होता है यही दशमस्थान है द्विमात्रिक यह द्वितीय विकास ९९ संख्याओं में विभक्त है । द्वितीय स्थानीय इस द्वितीय विकास की चरम सीमा नवनवति (निन्यानवे) संख्या है । "१०–११–२१–३१–४१–५१–६१–७१–८१–९१" यही इस द्वितीय विकास का व्याप्तिस्थान है । (२) ।

द्वितीय विकास की सुचिति १ संख्या है । इस को आधार मान कर उसी शून्य को मूल प्रतिष्ठा बनाते हुए तृतीय विकास होता है यही तृतीय विकास है । त्रैमात्रिक यह तृतीय विकास ९९ संख्याओं से युक्त है । तृतीय स्थानीय इस तृतीय विकास की चरम सीमा ९९ वीं संख्या है । १ –१ १–१ २–१ ४–१ ५ १ ६–१ ७–१ ८–१ ९" यही इस तृतीय विकास का व्याप्तिस्थान है । तृतीय विकास की सुचिति १ संख्या है । इस को आधार मान कर उसी शून्य को मूलप्रतिष्ठा बनाते हुए चतुर्थ विकास होता है यही सहस्र स्थान है । चतुर्मात्रिक यह चतुर्थ विकास ९९९ संख्याओं से युक्त है । चतुर्थ स्थानीय इस चतुर्थ विकास की चरम सीमा नौसौ निन्यानवीं संख्या है । यही इस चतुर्थ विकास का व्याप्तिस्थान है । इन चारों विकासों में परिणत हो कर इसप्रकार एक ही मूलतत्त्व चार संख्याओं में विभक्त हो रहा है ।

चतुःसंस्थानपरिलेखः—

१–प्रथमस्थानम् (१)–एकस्थानम् (१)–एकम्	२—द्वितीयस्थानम् (२`–द्विस्थानम् (१)–दशकम्	३—तृतीयस्थानम् (३)— त्रिस्थानम् (१)–शतकम्	४—चतुर्थ स (४)—चतुःस्था (१ –सह
– –(१)	१–०–(१)	१०–०–(१)	१ –०–(१
१–(१)	१–१–(११)	१०–१–(१ १)	१ –१–(१
०–२–(२)	२–१–(२१)	१ –२–(१ २)	१ ०–२–(१
–३–(३)	३–१–(३१)	१०–३–(१ ३)	१ ०–३–(१
–४–(४)	४ १–(४१)	१०–४–(१०४)	१ ०–४–(१
–५–(५)	५–१–(५१)	१०–५–(१ ५)	१ –५–(१
–६–(६)	६ १–(६१)	१०–६–(१ ६)	१ ०–६–(१
–७–( )	७–१–(७)	१ –७–(१ ७)	१ ०–७–(१
–८–(८)	८–१–(८१)	१०–८–(१०८)	१ –८–(१
–९–(९)	९–१–(९९)	१०–९–(१ ९)	१ –९–(१
९	९९	९ ९	९९९

यह तो हुआ आधिदैविकसृष्टि-सम्बन्धी तत्त्ववाद। अब आध्यात्मिक-दृष्टि से विचार कीजिए। शुक्र-शोणित के दाम्पत्यभाव से प्रजोत्पत्ति हुई है। शुक्र सौम्य है, शोणित आग्नेय है। आग्नेय शोणित अष्टवेदमय है, सौम्य शुक्र शुक्रवेदमय है। आप ही शुक्रवेद है। यही अथर्व है। भृगुमयी अङ्गिरामयी में इसके ३ पर्व हैं। आप, वायु, सोम भेद से आग्नेय अष्टवेद के ४ पर्व हैं। ३+४ के संघटन से शुक्र-शोणित का दाम्पत्यभाव सिद्ध बन रहा है। यही त्रिसप्तसंख्या पञ्चक स्थूलभाव से प्रजोत्पत्ति का कारण बनती है। यही आध्यात्मिक मण्डल का 'नवो नवो भवति जायमान' रहस्य है।

जिसे हम शून्य कहते हैं वही सृष्टि का 'बीज' है। जिस प्रकार सुसूक्ष्म वट बीज कालान्तर में महावृक्ष में विकसित हो जाता है एवमेव महाकाल-महाकाली के दाम्पत्यभाव से फूलकर वही शून्यबीज महासृष्टि-विकास का कारण बना करता है। गणितविज्ञान के अनुसार केवल शून्यबिन्दु ही परार्द्ध-संख्यापर्यन्त विकसित हुई है। स्वयं शून्यबिन्दु अव्यक्तसत्तात्मक अपरिमित का वह पिण्डभाव है जिसके गर्भ में अनन्त प्रतिष्ठित है। इसके विकास की चरम सीमा परार्द्ध संख्या मानी गई है। मूलविकास शून्यबिन्दु है परार्द्धभाव इसी का अन्तिम विकास है। यद्यपि अनुसंधानात्मक हमारे वैज्ञानिकाचार्यों में इस महाविज्ञान का कोई उपयोग नहीं है। वैदिक-विज्ञानसम्मत अवमसंख्या पर ही विश्रान्त है। तथापि वेदानुयायी 'सहस्र वै पूर्णम्'-'पूर्णं वै सहस्रम्' इत्यादि वचनों के आधार पर भिन्न कल्पनिकों ने यह कल्पना कर डाली है कि, "वैदिक युग के ऋषि सहस्र संख्या से ही परिचित थे, उन्हें आगे गणना न आती थी" इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए वेद में ही प्रतिपादित संख्याविज्ञान का स्वरूप प्रस्तुत उद्धृत कर दिया जाता है। जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण में इन संख्या-विभागों का विशद निरूपण हुआ है। विस्तारभिया इस विषय को स्फुटरूप न देते हुए वेदसम्मत संख्यास्वरूप एवं तदनुगत लोकसम्मत संख्याश्रेणि ही यहाँ उद्धृत कर दी जा रही है। जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण में संख्याओं का जो विकास हुआ है उनकी संख्याओं पर ध्यान दीजिए, एवं फिर अनुमान कीजिए कि-ऋषियों को कहाँ तक संख्या का परिज्ञान था?।

वेदसम्मतशून्यवितानपरिलेखः—

१ एकम्	१
२ दशम्	१
३ शतम्	१
४ सहस्रम्	१
५ अयुतम्	१
६ लक्षम्	१
७ प्रयुतम्	१
८ कोटि	१
९ अर्बुदम्	१
१० पद्म	१
११ खर्वम्	१
१२ निखर्वम्	१
१३ महापद्मम्	१
१४ शङ्कु	१
१५ समुद्रः	१
१६ अन्त्यम्	१
१७ मध्यम्	१
१८ परार्धम्	१

* लोकसम्मत-शून्यवितान—

(१)-इकाई (२)-दहाई (३)-सैंकड़ा (४)-हजार, (५)-दसहजार, (६)-लाख,
(७)-दस लाख (८)-करोड़ (९)-दस करोड़, (१०)-अरब (११)-दस अरब,
(१२)-खरब, (१३)-दस खरब, (१४)-नील (१५)-दस नील, (१६)-पद्म,
(१७)-दस पद्म (१८)-शंख, (१९)-दस शंख।

यह कहा जा चुका है कि, पूर्णलक्षण शून्यबिन्दु का वास्तविकस्वरूप अप्गर्भित अग्नि से सम्बन्ध रखता है। अप्गर्भित अग्निलक्षण शून्यबिन्दु का वितान ही अप्तत्त्व का वितान है। इस वितान की चरम सीमा यद्यपि 'परमपरार्द्ध' संख्या है। तथापि मनःप्राणगर्भित वाङ्मय स्वयम्भूपरमेष्ठी से सम्बद्ध 'वेदसाहस्री' की अपेक्षा से परार्द्ध-संख्यात्मक १८ संस्थानों का ग्रहण न होकर १-१ -१ ०— १ ' इन चार स्थानों का ही ग्रहण कर लिया गया है। तात्त्विक वेदविज्ञान-सम्बन्धी शून्यबिन्दु-वितान सहस्र संख्या पर ही समाप्त है। सहस्रसंख्या-विच्छिन्नात्मिका इस वेदसाहस्री का सहस्रांशु सूर्य को उदाहरण बना कर भलीभांति स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

सूर्यबिम्ब अप्गर्भित सावित्राग्निमय पिण्ड है। पुराण ने कहा है कि, जिस प्रकार एक महासमुद्र में एक बुद्बुद अपना साधारण सा अस्तित्त्व रखता है ठीक उसी प्रकार उस महामहिमामय सरस्वती एवं आम्भृणी-वाक्तत्त्वों से समन्वित सरस्वान् नामक' पारमेष्ठ्य समुद्र में सूर्य का स्थान एक बुद्बुद के समान है। इसीलिए तो द्रप्सः स्वस्कन्दः इत्यादिरूप से स्वयं ऋग्वेद ने सूर्य को एक पानी का बिन्दुमात्र ही माना है। सूर्यबिम्ब अप्गर्भित सावित्राग्निमय पिण्ड है। 'अपां गर्भमसीद" (ऋक् सं)—"या रोचने परस्तात् सूर्यस्य, याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः' (ऋक् सं ३।२२।३।) इत्यादि ऋग्वेदीय श्रुतियों के अनुसार सावित्राग्निघन सूर्य आपोमय पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित है। सौर रश्मियों में अप्तत्त्व अन्तर्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित है। इसी अप्तत्त्व के समावेश से सौर रश्मियाँ प्रदीप्त हैं। सोममण्डल में जो वर्णनिर्माण (प्रभाव) प्रतीत हो रहा है, वह इसी अप्याहुति अर्थात् तद्रूप सोमाहुति की ही महिमा है।

वेदसम्मतशून्यवितानपरिलेख —
१ एकम् १
२ दशम् १
३ शतम् १
४ सहस्रम् १
५ अयुतम् १
६ लक्षम् १
७ प्रयुतम् १
८ कोटिः १
९ अर्बुदम् १
१० अब्जम् १
११ खर्वम् १
१२ निखर्वम् १
१३ महापद्मम् १
१४ शङ्कुः १
१५ समुद्रः १
१६ अन्त्यम् १
१७ मध्यम् १
१८ परार्धम् १

का रूप कर्म्म है। पिण्डरूप प्राण का बाहिर की ओर वितत होकर अन्य ों का उपकार करना ही प्राण का रूप है। सहस्रमाता में-प्राणदान करना । है। सूर्य्यबिम्ब से निकल कर रश्मिसम्बन्ध से सर्वतः व्याप्त होने वाला णाण अश्मस्मादि पार्थिव प्राणियों में प्रविष्ट होकर प्राणिप्रजा के जीवन की । बनता है। दूसरे शब्दों में यौर प्राणकर्म्म ही हमारे जीवन का आधार है, के 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्य" इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है।

मनोगर्मित वागाधार पर अर्थात् भूताधार पर प्रतिष्ठित ररम्यवच्छिन्न प्राण । सर्वतः गमन के साथ-साथ वाङ्मयी सूर्य्यप्रतिमा को भी वितत करते हैं। र्य कहने का यही है कि प्राण वाक् को आधार बनाए बिना आगे नहीं बढ़ । फैलने का कर्म्म यद्यपि प्राण का ही है परन्तु फैलाव की आधारभूमि वाङ्मय पिण्ड ही बनता है। परिणाम इस उक्थवितान का यह होता है जो 'वितान-क-सामवेद' से सर्वथा हृदयङ्गम बन सकता है। प्रत्येक प्राणबिन्दु के साथ-साथ एक सूर्य्यमूर्ति आधाररूप से प्रतिष्ठित रहती है। प्रत्येक प्राण का अपना ा एक-एक स्वतन्त्र केन्द्र होता है। प्रत्येक केन्द्र से चारों ओर समबलात्मिका रश्मियों का वितान होता है। मूर्ति को केन्द्र बना कर समानरूप से वितत वाली रश्मियों का 'महाव्रत' नामक एक मण्डल बन जाता है। यही मण्डल मवेद' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

साम्यवितान के द्वारा सूर्य्यसंस्था में ऐसे सहस्र मण्डल बनते हैं। प्रत्येक उत्तरोत्तर त्न पूर्वापेक्षया बृहत् है। पूर्वमण्डलकेन्द्रस्थ प्रतिमारस का ही उत्तरमण्डल में न होता है। क्योंकि पूर्व-पूर्व मण्डलापेक्षया उत्तरोत्तर मण्डल बृहत् है, एव पूर्व पूर्व उक्थमूर्ति का रसभाग यजुर्वेदात्मक (उपादान) द्रव्य उत्तरो-र्ति की अपेक्षा कम होता जाता है। इसी अवस्था से मण्डल जहाँ उत्तरोत्तर होते जाते हैं वहाँ मूर्तियाँ उत्तरोत्तर छोटी होती जाती हैं। यही कारण है कि प्र वस्तुपिण्ड से ज्यों-ज्यों दूर हटते जाते हैं त्यों-त्यों उसका आकार लघु-र होता दिखलाई पड़ने लगता है। एक ओर उत्तरोत्तर मूर्ति की वा पूर्व-पूर्व मूर्तियाँ आकार में तो बड़ी रहती हैं परन्तु संख्या में कम रहती । क्योंकि उत्तरोत्तर मण्डल की अपेक्षा पूर्व-पूर्व मण्डल छोटा होता है। प्रत्येक

न विकासरेखा का सम्पूर्णविताव होता है। इसका पर्य्यवसान एकविंशस्तोम (२१) र होता है। इस प्रदेश में १ मूर्तियों की १ उक्थामद मूर्तियां हो जाती । यही 'सहस्र' नामक चतुर्थ पूर्णस्थान है। मूलकेन्द्र में बीजरूप से क्योंकि क सहस्र स्वात्मक प्राण ही प्रतिष्ठित हैं अत एक सहस्र मूर्तियों पर विकासरेखा । निधन हो जाता है। आगे विकास के लिए केन्द्रबल समाप्त है। एकमात्र सी पूर्णता को लक्ष्य में रखकर वेदसहस्री के सम्बन्ध से सहस्र संख्या को ही पूर्ण स्था मान लिया गया है। ऋक्-यजुः-सामातिरिक्त विकासक्रम की दृष्टि से यही रूप ऋतलक्षण परमपराद य-पर्य्यन्त विकसित होता है यह निवेदन किया ही जा मा है।

१—मूलबिन्दु—एकम्—प्रथमं पूर्णस्थानं—दशपर्मा—एकधा
२—त्रिवृत्स्तोम—दशकम्—द्वितीयं पूर्णस्थानं—दशत्—दशधा
३—पञ्चदशस्तोम—शतकम्—तृतीयं पूर्णस्थानं—दशानांदशत—शतधा
४—एकविंशस्तोम—सहस्रम्—चतुर्थं पूर्णस्थानं—शतानांदशत्—सहस्रधा

अब हमें अपने उस वेदशाखाविभाग की ओर आना है जिसकी ९-२१-१-१ शाखाओं के वैज्ञानिक रहस्य के स्पष्टीकरण के लिए शून्य-पूर्ण-सम्बन्धी चतुःसंस्थानों का यहां दिग्दर्शन कराया गया है। अपूर्णभाव ऋत है पूर्णभाव सत्य है। ऋतभाव ऋण है सत्यभाव धन है। यजुर्मयी भाव होने से ऋण है अग्निरूपमयी सत्य होने से धन है। अग्निरोऽग्नि पूर्ण (समृद्धि) लक्षण सत्यात्मक है*। मामर्व साम अपूर्णलक्षण ऋतात्मक है। अथर्ववेद आपोमय होने से ऋत है ऋग्वेद अग्निवेद होने से सत्य है। अथर्व का ऋतलक्षण

* १—'अग्नेन्यस्मै नृम्णानि धारय'—इत्यृक्युष्मा धमानि धारय-इत्येवैतदाह' (शत० १४।१।२।३०)।
२—"विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्" (ई० उप० १८)
३—"त्वं नो अग्ने सनये धनानां यशसं कारु कृणुहि स्तवानः। ऋध्याम कर्म्मापसा नवेन देवैर्द्यावापृथिवी प्रावतं नः॥"
(ऋक्सं० १।३१।८)

वेशमि–'यदा द्यर्य समभागच्छति यदीशस्य मते नया ।' इत्यादि
से प्रमाणित है । स्थूलमूर्ति प्रजापत्याग्नि इसी पदार्थ सोम को गर्भ में लेकर २१
भावात्मक बन रहा है । इसप्रकार प्राणात्मक पदार्थ के समन्वय से यह
पदार्थ त्रिंशत्त्रिंशोपेत बन रहा है । सोमापेक्षया यह त्रिंशत्कल अग्नि स्वय-
त्रिक त्रिकासम्पन्न से एकपञ्चमुख बनता हुआ घनभाव से युक्त है । त्रिंशति-
स्थानीय २० वाँ अग्निविकास इसी घनभाव से युक्त है । फलतः २ के स्थान में
२१ संख्या प्रतिष्ठित हो रही है ।

श्रोता इस सम्बन्ध में यह प्रश्न कर सकते हैं कि प्राण-स्थानीय सोम का
नष्ट है तो इस समन्वय से घनस्थानीय पदार्थ अग्नि एकोनविंशति (१९) क
सकता है । फिर इसे विंशति कैसे माना गया ? । प्रश्नसमाधि यह होगी कि
प्राणात्मक सोम का जब घनात्मक अग्नि में आत्मसमर्पण होजाता है तो सूक्ष्म
की इस समानकालीन प्रवृत्ति में प्राणसोमापेक्षया घनाग्नि बलवान् है । सोमानु-
बन्धी प्राणभाव अग्न्यनुबन्धी घनभाव दोनों जब एक साथ प्रवृत्त होते हैं
हैं तो बलवान् अग्नि के घनभाव से निर्बल सोम का प्राणभाव अभिभूत
जाता है । घनभाव में परिणत होता हुआ अग्नि प्राणभाव में परिणत होते हु
सोम के पूरे पदार्थ का निगरण कर जाता है । इसप्रकार अपने एकत्वः घनभा
से २१ भाव में परिणत होने वाला भूगग्नि प्राणभावात्मक सोम की प्राणपर्द
का अभिभव करता हुआ पूरे पदार्थ का निगरण कर एकविंशतिधा बन जाता है
यही— 'एकविंशतिधा वाक् स्थम्' है ।

द्वितीय विकास-स्थानीय अग्नि की विकासावस्था ही वायुलक्षणा वायु है
इसको 'शक्र' कहा गया है । वायु अग्नि की ही अवस्थान्तर है अतएव यह
अग्निवत् विकासोन्मुख बनता हुआ एकत्व घनभाव से युक्त होता हुआ पूर्ण है
यही एकत्रिंशत्सम्पन्न शक्र है । चतुर्थ विकासस्थानीय सोममय आदि
तत्त्वात्मक है । ब्रह्ममण्डल का स्वरूपनिर्माण करने वाले सहस्र गौतल्ली
सीमा तक पर परिसमाप्त है । आगे विकास का अभाव है । वेदतत्त्वी
अपेक्षा यही पूर्ण संख्या विश्रान्त है । न यहाँ प्राणभाव है न घनभाव है

है कर लिया जाय। जैसा कि हमने निवेदन किया है—वेद शब्द श्रुति-मन्त्र-
ही अभिधायक शब्द है। वस्तुतः 'ऋषिविद्या' का नाम ही 'मन्त्रविद्या' है।
म तात्पर्य है ऋषिविद्या से हमारा ?। वसिष्ठ-अगस्त्यादि जिन महर्षियों के
म श्रुत-उपश्रुत हैं क्या वे मनुष्यविध ऋषि हैं ?। हाँ। क्यों ?। इसलिए
। इन महातेजस्वी तपःपूत महामानवोंने तत्तद्विशेष-ऋषिप्राणों का साक्षात्कार
र के यथोनामरूप से वे उपाधियाँ सम्मानरूप से इस राष्ट्र की विशेष प्रजा के
द्वारा उपलब्ध की हैं। वस्तुतः 'ऋषि' उस मौलिक तत्त्व का नाम है जो कि
लिक तत्त्व यजुर्वेद के 'यत्' नाम से सम्बन्ध रखने वाला 'प्राण' तत्त्व ही है।

यही प्राण अपत् प्राण-'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। आज इसी
प्रसङ्ग में दो शब्दों में 'ऋषि' शब्द का भी स्वरूप-परिचय (जो कि वेदस्वरूप
की सीमा के ही गर्भ में अन्तर्भूत है) अपने श्रोताओं के सम्मुख उपस्थित कर
देना हम आवश्यक मान रहे हैं।

ऋषि-पितर-असुर-देव-गन्धर्व-पशु-आदि सभी वैदिक पदार्थ वर्तमान
युग में इसलिए एक पहेली बनते जा रहे हैं कि, इन का तात्त्विक प्राणात्मक
स्वरूप वेदस्वाध्यायपरम्परा की विलुप्ति से सर्वथा विलुप्तप्राय है। इन तत्त्वात्मक
ऋषि पितर-प्राणादि विशेषों के स्वरूप-ज्ञानाभाव से ही तत्त्वज्ञान सर्वथा अभिभूत
है। अतएव आज भारतीय प्रजा के लिए तत्त्वात्मक वेदशास्त्र केवल पुण्यपाठ की
सामग्री रह गया है परलोक का प्रमाणपत्र मात्र रह गया है। यही
प्रश्न है कि आज के इस तत्त्वान्वेषणयुग में जब हम संसार के सामने वेदशास्त्र
की चर्चा उठाते हैं तो शिक्षित समाज का अन्तर्जगत् संक्षुब्ध हो पड़ता है
[illegible] हो पड़ता है। उनकी दृष्टि में वेदशास्त्र, तदनुगत स्मृतिशास्त्र आगम-
शास्त्र, एवं पुराणशास्त्र आदि की समष्टिरूप भारतीय शास्त्र तत्त्वभाराद्
[illegible] पारलौकिक काल्पनिक-स्वप्नजगत्-मात्र है। जिसका मानव के ऐहलौकिक
अभ्युदयसंवर्धक लोकसमृद्धिसाधक लोकैश्वर्यवर्धक कर्मकलाप में न तो कोई
उपयोग ही है एवं न कोई लाभ ही। फलस्वरूप प्राणजगत् का प्रथमाभिव्यक्त
[illegible] इसप्रकार स्थूलजगत् का उपासक बन जायगा प्राणविद्या का स्थान
इसप्रकार केवल भौतिकविद्या ग्रहण कर लेगी, तत्पश्चात् जब आज [illegible]

अव्यक्तावाद अपहृत कर लेगा, और इन्हीं विडम्बनाओं से हम अवश्य अपने मौलिक तात्त्विक साहित्य से वञ्चित हो जायेंगे यह दोष किसे दिया जाय । हम अपना दोष दूसरों के व्याज से कैसे परोक्ष बनाए रख सकते हैं । अवश्य ही हमें अवनतशिरस्क बन कर यह स्वीकार कर ही लेना चाहिए कि, एकमात्र *हमारे ही महापराध से ये सम्पूर्ण विडम्बनाएँ उपस्थित हुई हैं जिनके परिशो*ध का एकमात्र उपाय यही प्रतीत हो रहा है कि, तात्त्विक दृष्टि से समन्वय रखने वाली विलुप्तप्राया वेदस्वाध्यायपरम्परा-आर्षपरम्परा का पुनरुज्जीवन किया जाय जिसके कि मूल में वेदतत्त्वात्मक ऋषितत्त्व प्रतिष्ठित है । एवं ऋषितत्त्व प्रतिष्ठा से ही जो परम्परा 'आर्षपरम्परा' नाम से प्रसिद्ध हुई है । एवं तदनुरूप धर्म इसी आधार पर आर्षधर्म्म नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जैसा कि 'आर्षं धर्मोपदेशञ्च' इत्यादि मानवीय वचन से प्रमाणित है । आर्षपरम्परा के मर्मस्वभूत इस ऋषितत्त्व का संक्षेप से परिचय कराना ही 'वेदस्वरूपपरिचय' नामक प्रकृत प्रकरण का प्रधान लक्ष्य है ।

शास्त्रों में प्रतिपादित ऋषितत्त्व जिन ऋषियों के द्वारा आर्षदृष्टि का निर्मना है, *जिस ऋषितत्त्व के साक्षात्कार से शास्त्रकार स्वयं भी 'ऋषि'* उपाधि के अधिकारी बने हैं तत्त्वात्मक ऋषियों के जो प्राकृतिक कर्म इन मनुष्य ऋषियों के साथ अभेदतुल्यया पुराणादि में प्रतिपादित हैं, वे ही तत्त्व-ऋषि यद्यपि प्रकृत परिच्छेद के मुख्य उद्देश्य हैं तथापि प्रसङ्ग से मानव-ऋषियों का भी विचार कर लेना अप्रासङ्गिक न होगा ।

ऋषि शब्द की अनेक स्थानों में व्याप्ति उपलब्ध हुई है । इन सम्पूर्ण व्याप्तियों का निम्न लिखित चार भागों में वर्गीकरण कर सकते हैं,—(१)—असत्स्वरूपऋषि, (२)—रोचनात्मकप्राणऋषि, (३)—द्रष्टृस्वरूपऋषि, एवं (४)—वक्तृस्वरूपऋषि । ये ही वे चार विभाग हैं । सर्वप्रथम 'असत्स्वरूपऋषि' को । लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए । वेदस्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व । यह निवेदन किया जा चुका है कि रसात्मक यजुर्वेद का जो 'यत्' भाग है वही गतिप्रवर्तक प्राणतत्त्व है । गतिप्रवर्तक इसी प्राण के गमन से—गतिमा

से प्राणों की सम्पूर्ण शक्तियों का आविर्भाव हुआ है । अतएव यही प्राणतत्त्व
क परिभाषा में अपने गतिभाव के कारण 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध हुआ है,
ा कि भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—

"असद्वा इदमग्र आसीत् । तदाहु:-किं तदसदासीत् ?,
ते । ऋषयो वाव तदग्रे-असदासीत् । तदाहु:-के ते ऋषय: ?,
ते । प्राणा वा ऋषय: । ते यत्पुरा-अस्मात्-सर्वस्मात्-इद
च्छन्त -श्रमेण, तपसा-अरिषन्, तस्मात्-'ऋषय:' ।" ।

—शत० ब्रा० ६।१।१।१।

जब कुछ न था तो क्या था ? । श्रुति उत्तर देती है-उस समय 'असत्'
तत्त्व था । नहीं समझे असत् क्या ? । उत्तर देती है श्रुति-'ऋषयो वाव
दग्रे-असदासीत्' । अर्थात् उस असत्' तत्त्व का नाम 'ऋषि' था ।
ो मानव की सामान्य प्रज्ञा के लिए जिस प्रकार असत् शब्द अनिश्चित सा है
ऋषि शब्द भी प्राय: वैसा ही है । नहीं समझे । अतएव-ऋषि शब्द का क्या
अर्थ ? । तो स्वयं श्रुति ऋषि शब्द का अर्थ करती है-'प्राणा वा ऋषय:' ।
ाण तत्त्व जाना पहिचाना हुआ अवश्य है । किन्तु इसे 'ऋषि' क्यों कहा
या ?, यह प्रश्न अब भी शेष रह गया । इस प्रश्न का समाधान करती हुई
ान्त में श्रुति भगवती कहती है कि-ते यत्पुरा अस्मात्-सर्वस्मात्-
इदमिच्छन्त: श्रमेण तपसा अरिषन् तस्मात्-'ऋषय:' ।

अर्थात् प्रजापति ने इसी प्राण को गतिशील बनाते हुए इसके द्वारा
सम्पूर्ण सृष्टिस्वरूप की कामना की । इसी गतिभाव के कारण यह प्राणतत्त्व
ऋषि नाम से प्रसिद्ध हुआ । ऋ-'षन्'-और 'ष' में गत्यात्मक 'षन्' भाव
ही वह मौलिक वेदतत्त्व है जिसे हम अव्यक्तरूप ऋषि कह सकते हैं । यही
प्राणात्मक प्रथम ऋषि है । इस ऋषिप्राण को, किंवा प्राणात्मक ऋषि को वेद
'असत्'-'रस'-इत्यादि नामों से व्यवहृत करना पड़ता है । जिस प्राण से सृष्टि का

अस्मनाबाद अपहृत कर लेगा, और इन्हीं विडम्बनाओं से हम सचमुच मौलिक तात्त्विक साहित्य से वञ्चित हो जायेंगे। यह दोष किसे दिया जाय ! हम अपना दोष दूसरों के व्याज से कैसे परोक्ष बनाए रख सकते हैं। अवश्य हमें अवनतशिरस्क बन कर यह स्वीकार कर ही लेना चाहिए कि, एक हमारे ही प्रमादापराध से ये सम्पूर्ण विडम्बनाएँ उपस्थित हुई हैं जिनके परि का एकमात्र उपाय यही प्रतीत हो रहा है कि, तात्त्विक दृष्टि से सम्बन्ध र अपनी विलुप्तप्राया वेदस्वाध्यायपरम्परा आर्षपरम्परा का पुनरुज्जीवन कि जाय जिसके कि मूल में वेदतत्त्वात्मक ऋषितत्त्व प्रतिष्ठित है। एवं ऋषि म तत्त्व से ही जो परम्परा 'आर्षपरम्परा' नाम से प्रसिद्ध हुई है। एवं जो धर्म इसी आधार पर 'आर्षधर्म' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जैसा 'आर्षं धर्मोपदेशञ्च' इत्यादि मानवीय वचन से प्रमाणित है। आर्षपर के सर्वस्वभूत इस ऋषितत्त्व का संक्षेप से परिचय कराना ही 'वेदस्वरूपपरि नामक प्रकृत प्रकरण का प्रधान लक्ष्य है।

शास्त्रों में प्रतिपादित ऋषितत्त्व जिन महर्षियों के द्वारा आर्षदृष्टि का वि बना है जिस ऋषितत्त्व के साक्षात्कार से साक्षात्कर्त्ता स्वयं भी 'ऋषि' उप के अधिकारी बने हैं तत्त्वात्मक ऋषियों के जो प्राकृतिक धर्म इन मान ऋषियों के साथ यथेष्टरूपेण पुराणादि में प्रतिपादित हैं वे ही तत्त्व-ऋ यद्यपि प्रकृत परिच्छेद के मुख्य लक्ष्य हैं तथापि प्रसङ्गवश से मानव-ऋषि का भी विचार कर लेना अप्रासङ्गिक न होगा।

ऋषि शब्द की अनेक स्थानों में व्याप्ति उपलब्ध हुई है। इन सब व्याप्तियों का निम्न लिखित चार भागों में वर्गीकरण कर सकते हैं—(१)—असत् प्राणऋषि (२)—रोचनमण्डलस्थऋषि (३)—ब्रह्मपुत्रमानसऋषि, एवं (४)—मानवऋषि। वे ही ये चार विभाग हैं। सर्वप्रथम 'असत्प्राणऋषि' को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए। वेदस्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व में निवेदन किया जा चुका है कि, रसात्मक यजुर्वेद का जो 'यत्' भाग वही गतिलक्षण प्राणतत्त्व है। गतिलक्षण इसी प्राण के गमन से—गतिम

म्भव । यह तो प्रश्नोपनिषदादि में सुनाविशदरूप से निरूपित वैदिक 'प्राण-
षया' का ही एक स्वतन्त्र विषय है। प्रकृत में सन्दर्भसङ्गतिमात्र की दृष्टि से
स सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना है कि, 'ऋषि' शब्द की मुख्य व्याप्ति प्रत-
त्वक उस मौलिक प्राण से ही सम्बन्ध रखती है क्योंकि मौलिक प्राण पञ्चजना-
मों के उत्पादक बनते हैं। मौलिक चातुर्वर्ण्य उत्पन्न होता है तेजोमात्राओं का
वेकास होता है सर्वविध वर्णों का विकास होता है यथायथम् संज्ञाकर्म तथा
वेदकर्मों का समारम्भ होता है प्रज्ञामात्रा का उदय होता है ज्ञानकर्मेन्द्रियों
म उद्गम होता है इन्द्रियों के कर्मों का उदय होता है पितर-देवता-असुर
हाँ तक गिनायें अन्ततः नाम से व्यवहृत करने योग्य विश्व में जो कुछ है
न की मूलप्रतिष्ठा सबका प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण सब का उक्थ-ब्रह्म-सामात्मक
परमा यही ऋषिप्राण है। प्राण से ही सृष्टि का विकास हुआ है प्राणाधार
र ही विश्व प्रतिष्ठित है प्राण ही इसकी विलक्षणभूमि है। यह प्राण वही व्यापक
द्-सामान्यरूप यजुः-प्राण है जो कि उपाधिभेद से अनन्तरूपों में परिणत
ता हुआ वैविध्योपलक्षित आनन्त्य का आधार बन रहा है। 'भृगु-वसिष्ठ-
श्यप-जमदग्नि-अत्रि-मरीचि-पुलस्त्य-पुलह-क्रतु-दक्ष-अङ्गिरा-व ब्र-
हस्पति-अगस्त्य-विश्वामित्र आदि आदि जितने भी ऋषिनाम हम सुनते आ
रहे हैं वे सब प्रधानरूप से प्राणात्मक ऋषितत्त्वों के ही नाम हैं। इन प्राणों के
वैशेष्यतारतम्य से ही आधिदैविक, आध्यात्मिक आधिभौतिक विवर्तों में विशेष
प्रकार के स्वरूप परिवर्तित होते रहते हैं। यदि आप इन प्राणों का यथावत् परि-
ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता रखते हैं यदि प्राण-स्वरूप से आप परिचित हैं साथ
ही इनके रासायनिक-सम्मिश्रणात्मक विधि विधानों से भी परिचित हैं तो अवश्य ही
आप भी ऋषिकर्म के उपासक बन सकते हैं। बने हैं पूर्व युगों में इसप्रकार
की प्राणविद्या के निष्णात यहाँ के महर्षि। जड़पदार्थों को चेतनभाव में परिणत
कर डालना, मूर्ख को विद्वान् बना देना, विद्वान् को मूर्ख बना देना पशु को मनुष्य
भाव में परिणत कर देना, मानव को पशुभाव में परिणत कर देना घन पदार्थ
को तरलावस्था में तरल को वाष्पावस्था में, वाष्पावस्था को घनावस्था में परिणत
कर देना ये सब कुछ असम्भव कल्पनाएँ इस प्राणविज्ञानात्मिका 'ब्रह्मविद्या'
से सर्वथा सम्भव हैं. किस सम्भावना का कि-'ब्रह्मविद्यया ह वै सर्व भविष्यन्तो

य । यह तो प्रश्नोपनिषदादि में सुव्यवस्थितरूप से निरूपित वैदिक 'प्राण-
णों' का ही एक स्वतन्त्र विषय है । प्रकृत में सन्दर्भसङ्गतिमात्र की दृष्टि से
सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना है कि 'ऋषि' शब्द की मुख्य व्याप्ति प्रक-
रण उस मौलिक प्राण से ही सम्बन्ध रखती है क्योंकि मौलिक प्राण पञ्चतन्मा-
त्रों के उत्पादक बनते हैं । मौलिक वायुवर्ग उत्पन्न होता है तेजोमात्राओं का
प्रस होता है सर्वविध वर्णों का विकास होता है यथायथम् संस्कारकर्म तथा
कर्मों का सञ्चालन होता है प्रज्ञामात्रा का उदय होता है ज्ञानकर्मेन्द्रियों
उद्गम होता है इन्द्रियों के कर्मों का उदय होता है पितर-देवता-असुर,
ई सब गिनायें ऋषि नाम से व्यवहृत करने योग्य विश्व में जो कुछ है
भी मूलप्रतिष्ठा सत्त्व प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण सब का उक्थ-ब्रह्म-सामात्मक
त्मा यही ऋषिप्राण है । प्राण से ही सृष्टि का विकास हुआ है प्राणाधार
ही विश्व प्रतिष्ठित है प्राण ही सबकी विलयनभूमि है । यह प्राण वही व्यापक
एक-सामान्यविध पशु-प्राण है जो कि उपाधिभेद से अनन्तरूपों में परिणत
ता हुआ वैचित्र्योपलक्षित ज्ञानरूप का आधार बन रहा है । 'भृगु-वसिष्ठ-
श्यप-जमदग्नि-अत्रि-मरीचि-पुलस्त्य-पुलह-क्रतु-दक्ष-अङ्गिरा-प्र-
बृहस्पति-अगस्त्य-विश्वामित्र' आदि आदि जितने भी ऋषिनाम हम सुनते आ
रहे हैं वे सब प्रधानरूप से प्राणात्मक ऋषितत्त्वों के ही नाम हैं । इन प्राणों के
विभेदतारतम्य से ही आधिदैविक आध्यात्मिक आधिभौतिक विश्वों में विशेष
प्रकार के स्वरूप परिवर्तित होते रहते हैं । यदि आप इन प्राणों का यथावत् परि-
ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता रखते हैं यदि प्राण-स्वरूप से आप परिचित हैं साथ
ही इनके तत्त्वमनिष्ठ-सम्मिश्रणात्मक विधि-विधानों से भी परिचित हैं तो अवश्य ही
आप भी सृष्टिकर्म के सञ्चालक बन सकते हैं । सुने हैं पूर्व युगों में इसप्रकार
की प्राणविद्या के निष्णात यहाँ के महर्षि । वस्तुतत्त्वों को चेतनभाव में परिणत
कर डालना, मूर्ख को विद्वान् बना देना, विद्वान् को मूर्ख बना देना पशु को मनुष्य
भाव में परिणत कर देना मानव को पशुभाव में परिणत कर देना घन पदार्थ
को तरलावस्था में तरल को वाष्पावस्था में वाष्पावस्था को घनावस्था में परिणत
कर देना, ये सब कुछ असम्भव कल्पनायें इस प्राणविज्ञानात्मिका 'ब्रह्मविद्या'
से सर्वथा सम्भव हैं जिस सम्भावना का कि-'ब्रह्मविदाप्नोति' ये सर्व भविष्य तो

मय । यह तो प्रश्नोपनिषदादि में सुस्पष्टरूप से निरूपित वैदिक 'प्राण-
विद्या' का ही एक स्वतन्त्र विषय है। प्रकृत में स्वरूपलक्षणविभाग की दृष्टि से
इस सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना है कि, 'ऋषि' शब्द की मुख्य व्याप्ति प्राण-
रूपया उस मौलिक प्राण से ही सम्बन्ध रखती है जो कि मौलिक प्राण पञ्चतन्मा-
त्राओं के उत्पादक बनते हैं। मौलिक प्राणवर्ग उत्पन्न होता है तेजोमात्राओं का
भान होता है सर्वविध रूपों का विधान होता है यथायावत् संज्ञाकर्म तथा
रूपकर्मों का सञ्चालन होता है प्रज्ञामात्रा का उदय होता है ज्ञानकर्मेन्द्रियों
का उद्गम होता है इन्द्रियों के कर्मों का उदय होता है पितर-देवता-असुर,
यहाँ तक गिनायें 'ऋषि' नाम से व्यवहृत प्राण मौलिक विश्व में जो कुछ है
उन सब की मूलप्रतिष्ठा बनकर प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण बन का उदय-अस्त-नामात्मक
इसका यही अभिप्राय है। प्राण से ही सृष्टि का विकास हुआ है प्राणाधार
पर ही विश्व प्रतिष्ठित है प्राण ही इसकी विलयनभूमि है। यह प्राण वही प्रारम्भ
एक-समावच्छिन्न पशु-प्राण है जो कि उत्तरोत्तर से अनन्तरूपों में परिणत
होता हुआ वैविध्योपलक्षित प्रपञ्च का आधार बन रहा है। 'भृगु-वसिष्ठ-
मनु-जमदग्नि-अत्रि-मरीचि-पुलस्त्य-पुलह-क्रतु-दक्ष-अङ्गिरा-ब्र-
हस्पति-अगस्त्य-विश्वामित्र आदि आदि जितने भी ऋषिनाम हम सुनते आ
रहे हैं वे सब प्रधानरूप से प्राणात्मक ऋषितत्वों के ही नाम हैं। इन प्राणों के
तारतम्य से ही आधिदैविक, आध्यात्मिक आधिभौतिक विश्वों में विशेष
प्रकार के स्वरूप परिवर्तित होते रहते हैं। यदि आप इन प्राणों का यथावत् परि-
ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता रखते हैं यदि प्राण-स्वरूप से आप परिचित हैं साथ
ही इनके यात्रिक-अभियानात्मक विधि विधानों से भी परिचित हैं तो अवश्य ही
आप भी ऋषिकर्म के उपासक बन सकते हैं। थे हैं पूर्व युगों में इसप्रकार
की ऋषिविद्या के निष्णात यहाँ के महर्षि। जड़पदार्थों को चेतनभाव में परिणत
कर डालना मूर्ख को विद्वान् बना देना विद्वान् को मूर्ख बना देना पशु को मनुष्य
भाव में परिणत कर देना मानव को पशुभाव में परिणत कर देना घन पदार्थ
की तरलावस्था में तरल को वाष्पावस्था में वाष्पावस्था को घनावस्था में परिणत
कर देना ये सब कुछ असम्भव कल्पनाएँ इस प्राणविज्ञानात्मिका 'ऋषिविद्या'
से सर्वथा सम्भव हैं। इस सम्भावना का कि-'ऋषिविद्या' हैं? वे सब भविष्य ही

गम कलश के उत्तरभाग में गिरा उससे 'वसिष्ठऋषि' का प्रादुर्भाव हुआ। जो भाग कलश के दक्षिणभाग में गिरा उससे अगस्त्यऋषि का आविर्भाव हुआ। इसप्रकार उर्वशी वेश्या के निमित्त से स्खलित मित्रावरुण के रेत से कलश में ये तीन ऋषि प्रकट हुए"।

भाग के उक्त आख्यान का वैज्ञानिक रहस्य न जानने के कारण यदि कोई भी विद्वान् भारतीय इन आख्यानों के सम्बन्ध में अपनी भ्रान्त कल्पना करते हैं तो हमें विशेष आश्चर्य नहीं होता। आश्चर्य तो उस समय होता है सम्बन्ध में होता है जबकि वैदिक-साहित्य की अनन्यनिष्ठा का अनुगमन करने भारतीय भी इन पौराणिक रहस्यात्मक वैज्ञानिक आख्यानों को 'गपोड़ा' ने की भयानक भ्रान्ति करते हुए अपने आपको प्रायश्चित का अनुगामी लेते हैं। सम्भवतः इन वेदभक्त महाभागों (महाशयों) को यह विदित नहीं है, मायावती की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुराण ने जो कुछ कहा है वे आख्यान उन्हीं शब्दों में सूक्ष्म से स्वयं वेदसंहिता में भी उपवर्णित हैं। यदि पुराण आख्यान असत्-कल्पना है तो उनका वेद भी ऐसी कल्पनाओं से शून्य है। देखिए! इसी आख्यान के मूलसूत्र किस प्रकार स्वयं मूल ऋग्वेदसंहिता में उपलब्ध हो रहे हैं।

-विद्युतो ज्योतिः परि सञ्जिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्त्वा विश आजभार॥
-उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवाः पुष्करे त्वाददन्त॥
-स प्रकेत उभयस्य प्रविद्वान्त्सहस्रदान उत वा सदानः।
यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्नप्सरसः परिजज्ञे वसिष्ठः॥
-सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥

—ऋक्सं० ७ मं० । ३३ सू० । १०-११-१२-१३ मन्त्र।

याम्योत्तरवृत्तात्मक इन भाग्य अप्सराओं का सोमाप्सरसात्मक उस अन्तरिक्ष से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पूर्वकथनानुसार उर्वन्तरिक्ष में दिक्सोम व्याप्त है, जो कि दिक्सोम अपने आकुञ्चिधर्म से यज्ञात्मक विष्णु की स्वरूपरक्षा करता हुआ 'वैष्णव' नाम से प्रसिद्ध है। वैष्णवसोम यदि राजा है तो वे अप्सरायें इसकी प्रजा हैं। 'सोमो वैष्णवो राजेत्याह। तस्याप्सरसो विशः। ता इमा आसत इति–युवतयः शोभना उपसमेता भवन्ति" (शत ब्रा ११।१।४।८)। इसी आकुञ्चिधर्म के सम्बन्ध से भगवान् याज्ञवल्क्य ने अप्सराओं को भी 'आकुति' शब्द से व्यवहृत कर दिया है। याजुषहोमप्रधान में आनुपूर्व्य से भी इन अप्सराओं का स्मरण हुआ है। उस प्रकरण में वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा–शरत् हेमन्त इन पाँच ऋतुओं में दो दो अप्सराओं का भोग माना है जो कि दस अप्सरायें क्रमशः– "१—पुञ्जिकस्थला २—क्रतुस्थला, १—मेनका २—सहजन्या, १—प्रम्लोचन्ती, २—अनुम्लोचन्ती, १—विश्वाची २—घृताची, १—उर्वशी, २—पूर्वचित्ति' इन नामों से प्रसिद्ध हैं (देखिए–शत ब्रा ८।६।१।)।

इन सब दसों अप्सराओं में 'उर्वशी वह अप्सरा, अर्थात् वह याम्योत्तरवृत्त है जिसके कि दो विभाग माने गए हैं। इसी याम्योत्तरवृत्त के आधार पर–जो कि मध्यरेखा नाम से प्रसिद्ध है–अयवन–अनयवनात्मक शास्त्रीय अहोरात्र का विभाजन हुआ है। रात्रि के बारह बजे से दिन के बारह बजे पर्यन्त अयवन-काल है एवं दिन के १२ बजे से रात्रि के १२ बजे पर्यन्त अनयवन–काल माना गया है। उदयास्त से अहोरात्र का विभाग करना एक प्रकार है, एवं अयवन–अनयवन से अहोरात्र का विभाग करना एक प्रकार है। मध्यरात्रि के पीछे से सौरप्राण पार्थिव प्रजा के साथ संयुक्त होने लगता है। यही आद्यकाल का आरम्भ है। यहाँ से आरम्भ कर मध्याह्न के बारह बजे पर्यन्त यह प्राण निरन्तर हमारे साथ योग करता है। अनन्तर सौरप्राण हम से क्रमशः वियुक्त होने लगता है एवं इसकी यह वियुक्ति मध्यरात्रि पर्यन्त समाप्त रहती है। सौरप्राणयुक्तता आद्यकाल की, तथा सौरप्राणवियुक्ति रात्रिकाल की स्वरूप-समर्पिका मानी गई है। अहोरात्र की इस सामान्य परिभाषा के अनुसार मध्यरात्रि से मध्याह्न पर्यन्त १२ घण्टे का काल आद्यकाल कहलाएगा, एवं मध्याह्न के

याम्योत्तरवृत्तात्मक इन आप्य अप्सराओं का प्रोतरूपवृत्तात्मक उस अन्तरिक्ष से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पूर्वकथनानुसार उर्वान्तरिक्ष में विष्णुलोम व्याप्त है जो कि विष्णुलोम अपने आहुतिधर्म से यज्ञात्मक विष्णु की स्वरूपरक्षा करता हुआ 'वैष्णव' नाम से प्रसिद्ध है। वैष्णवसोम यदि राजा है तो ये अप्सराएँ इनकी प्रजा हैं। "सोमो वैष्णवो राजेत्याह। तस्याप्सरसो विशः। ता इमा आसत इति-युवतयः शोभना उपसमेता भवन्ति" (शत. ब्रा. १३।४।३।८)। इसी आहुतिधर्म के सम्बन्ध से भगवान् याज्ञवल्क्य ने अप्सराओं को भी 'आहुति' शब्द से व्यवहृत कर दिया है। पञ्चचूडोपधान में ऋतुरूप से भी इन अप्सराओं का ग्रहण हुआ है। उस प्रकरण में वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरद् हेमन्त, इन पाँच ऋतुओं में दो दो अप्सराओं का योग माना है जो कि दस अप्सराएँ क्रमशः— "१—पुञ्जिकस्थला २—क्रतुस्थला, १—मेनका २—सहजन्या, १—प्रम्लोचन्ती, २—अनुम्लोचन्ती, १—विश्वाची २—घृताची, १—उर्वशी, २—पूर्वचित्ति इन नामों से प्रसिद्ध हैं (देखिए—शत. ब्रा. ८।६।१।)।

इन सब दसों अप्सराओं में 'उर्वशी' नाम अप्सरा, अर्थात् वह याम्योत्तरवृत्त है, जिसके कि दो विभाग माने गए हैं। इसी याम्योत्तरवृत्त के आधार पर—जो कि मध्यरेखा नाम से प्रसिद्ध है—अद्यतन-अनद्यतनात्मक शास्त्रीय अहोरात्र का विभाजन हुआ है। रात्रि के बारह बजे से दिन के बारह बजे पर्यन्त अद्यतन-काल है, एवं दिन के १२ बजे से रात्रि के १२ बजे पर्यन्त अनद्यतन-काल माना गया है। उदयास्त से अहोरात्र का विभाग करना एक प्रकार है एवं अद्यतन-अनद्यतन से अहोरात्र का विभाग करना एक प्रकार है। मध्यरात्रि के पीछे से सौरप्राण पार्थिव प्रजा के साथ संयुक्त होने लगता है। यही अहःकाल का आरम्भ है। यहाँ से आरम्भ कर मध्याह्न के बारह बजे पर्यन्त यह प्राण निरन्तर हमारे साथ योग करता है। अनन्तर सौरप्राण हम से क्रम क्रमशः वियुक्त होने लगता है एवं इसकी यह वियुक्ति मध्यरात्रि पर्यन्त प्रक्रान्त रहती है। सौरप्राणयुक्तता अहःकाल की, तथा सौरप्राणवियुक्ति रात्रिकाल की स्वरूप-समर्पिका मानी गई है। अहोरात्र की इस सामान्य परिभाषा के अनुसार मध्यरात्रि से मध्याह्न पर्यन्त १२ घण्टे का काल अहःकाल कहलाएगा, एवं मध्याह्न के

याम्योत्तरवृत्तात्मक इन आप्य अप्सराओं का होत्यक्रमात्मक उस अन्तरिक्ष से धनिष्ठ सम्बन्ध है। पूर्वकथनानुसार उर्वान्तरिक्ष में दिक्सोम व्याप्त है, जो कि दिक्सोम अपने आहुतिधर्म से यज्ञात्मक विष्णु की स्वसरता करता हुआ 'वैष्णव' नाम से प्रसिद्ध है। वैष्णवसोम यदि राजा है तो वे अप्सराएँ इनकी प्रजा हैं। "सोमो वैष्णवो राजेत्याह । तस्याप्सरसो विशः। ता इमा आसत इति-युवतयः शोभना उपसमेता भवन्ति" (शत ब्रा १३।४।३।८)। इसी आहुतिधर्म के सम्बन्ध से भगवान् याज्ञवल्क्य ने अप्सराओं को भी 'आहुति' शब्द से व्यवहृत कर दिया है। पञ्चचूडोपधान में ऋतुरूप से भी इन अप्सराओं का ग्रहण हुआ है। उस प्रकरण में वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत् हेमन्त इन पाँच ऋतुओं में दो दो अप्सराओं का भोग माना है जो कि दस अप्सराएँ क्रमशः-

"१—पुञ्जिकस्थला २—क्रतुस्थला, १—मेनका २—सहजन्या, १—प्रम्लोचन्ती २—अनुम्लोचन्ती, १—विश्वाची, २—घृताची, १—उर्वशी, २—पूर्वचित्ति इन नामों से प्रसिद्ध हैं (देखिए-शत ब्रा ८।६।१।)।

इन सब वहाँ अप्सराओं में 'उर्वशी' वह अप्सरा, अर्थात् वह याम्योत्तरवृत्त है, जिसके कि दो विभाग माने गए हैं। इसी याम्योत्तरवृत्त के आधार पर-जो कि मध्यरेखा नाम से प्रसिद्ध है-अयतन-अनयतनात्मक शास्त्रीय अहोरात्र का विभाजन हुआ है। रात्रि के बारह बजे से दिन के बारह बजे पर्यन्त अयतन-काल है एवं दिन के १२ बजे से रात्रि के १२ बजे पर्यन्त अनयतन-काल माना गया है। उदयास्त से अहोरात्र का विभाग करना एक प्रकार है एवं अयतन-अनयतन से अहोरात्र का विभाग करना एक प्रकार है। मध्यरात्रि के पीछे से सौरप्राण पार्थिव प्रजा के साथ सयुक्त होने लगता है। यही अद्यकाल का आरम्भ है। यहाँ से आरम्भ कर मध्याह्न के बारह बजे पर्यन्त यह प्राण निरन्तर हमारे साथ योग करता है। अनन्तर सौरप्राण क्रम से कम क्रमशः वियुक्त होने लगता है एवं इसकी यह वियुक्ति मध्यरात्रि पर्यन्त प्रक्रान्त रहती है। सौरप्राणयुक्तता अद्यकाल की, तथा सौरप्राणवियुक्त रात्रिकाल की स्वरूप-समर्पिका मानी गई है। अहोरात्र की इस सामान्य परिभाषा के अनुसार मध्यरात्रि से मध्याह्न पर्यन्त १२ घन्टे का काल अद्यकाल कहलाएगा, एवं मध्याह्न के

साम्पोस्तरात्रात्मक इन पांच अप्सराओं का होराकलात्मक उस अन्तरिक्ष से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पूर्वकथनानुसार उर्वन्तरिक्ष में दिक्सोम व्याप्त है, जो कि दिक्सोम अपने आकृतिधर्म से यज्ञात्मक विष्णु की स्वरूपरक्षा करता हुआ 'वैष्णव' नाम से प्रसिद्ध है। वैष्णवसोम यदि राजा है तो ये अप्सराएँ इसकी प्रजा हैं। 'सोमो वैष्णवो राजेत्याह । तस्याप्सरसो विशः । ता इमा आसत इति-युवतयः शोभना रूपसमेता भवन्ति" (शत ब्रा १३।४।३।८)। इसी आकृतिधर्म के सम्बन्ध से भगवान् याज्ञवल्क्य ने अप्सराओं को भी 'आकृति' शब्द से व्यवहृत कर दिया है। यज्ञचयनोपाख्यान में ऋतुक्रम से भी इन अप्सराओं का स्मरण हुआ है। उस प्रकरण में वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरद् हेमन्त इन पाँच ऋतुओं में दो दो अप्सराओं का भोग माना है जो कि दश अप्सराएँ क्रमशः— "१—पुञ्जिकस्थला २—क्रतुस्थला, १—मेनका, २—सहजन्या १—प्रम्लोचन्ती २—अनुम्लोचन्ती, १—विश्वाची, २—घृताची, १—उर्वशी, २—पूर्वचित्ति' इन नामों से प्रसिद्ध हैं (देखिए—शत ब्रा ८।६।१।)।

इन सब दशों अप्सराओं में 'उर्वशी यह अप्सरा अर्थात् यह साम्पोस्तरात्र है, जिसके कि दो विभाग माने गए हैं। इसी साम्पोस्तरात्र के आधार पर—जो कि मध्यरेखा नाम से प्रसिद्ध है—अयन-अनयनात्मक चालीस अहोरात्र का विभाजन हुआ है। रात्रि के बारह बजे से दिन के बारह बजे पर्यन्त अयनकाल है, एवं दिन के १२ बजे से रात्रि के १२ बजे पर्यन्त अनयन-काल माना गया है। उदयास्त से अहोरात्र का विभाग करना एक प्रकार है एवं अयन-अनयन से अहोरात्र का विभाग करना एक प्रकार है। मध्यरात्रि के पीछे से सौरप्राण पार्थिव प्रजा के साथ संयुक्त होने लगता है। यही यज्ञकाल का आरम्भ है। यहाँ से आरम्भ कर मध्याह्न के बारह बजे पर्यन्त यह प्राण निरन्तर हमारे साथ योग करता है। अनन्तर सौरप्राण हम से क्रम क्रमशः वियुक्त होने लगता है एवं इसकी यह वियुक्ति मध्यरात्रि पर्यन्त प्रक्रान्त रहती है। सौरप्राणयुक्तता यज्ञकाल की, तथा सौरप्राणवियुक्ति पितृकाल की स्वरूप-समर्पिका मानी गई है। अहोरात्र की इस सामान्य परिभाषा के अनुसार मध्यरात्रि से मध्याह्न पर्यन्त १२ घण्टे का काल यज्ञकाल कहलाएगा, एवं मध्याह्न के

याम्योत्तरवृत्तात्मक इन आप्य अप्सराओं का क्रोडवृत्तात्मक उस अन्तरिक्ष से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पूर्वकथनानुसार उर्वान्तरिक्ष में दिक्सोम व्याप्त है, जो कि दिक्सोम अपने आहुतिधर्म से यज्ञात्मक विष्णु की स्वरूपरक्षा करता हुआ 'वैष्णव' नाम से प्रसिद्ध है। वैष्णवसोम यदि राजा है तो ये अप्सराएँ इनकी प्रजा हैं। "सोमो वैष्णवो राजेत्याह । तस्याप्सरसो विशः । ता इमा आसत इति-युवतयः शोभना उपसमेता भवन्ति" (शत ब्रा ११।१।४।८)। इसी आहुतिधर्म के सम्बन्ध से भगवान् याज्ञवल्क्य ने अप्सराओं को भी 'आहुति' शब्द से व्यवहृत कर दिया है। यज्ञपुरुषोपस्थान में यज्ञरूप से भी इन अप्सराओं का ग्रहण हुआ है। उस प्रकरण में वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरद् हेमन्त इन पाँच ऋतुओं में दो दो अप्सराओं का भोग माना है जो कि दस अप्सराएँ क्रमशः— "१—पुञ्जिकस्थला २—क्रतुस्थला, १—मेनका, २—सहजन्या १—प्रम्लोचन्ती, २—अनुम्लोचन्ती १—विश्वाची, २—घृताची, १—उर्वशी, २—पूर्वचित्ति इन नामों से प्रसिद्ध हैं (देखिए—शत ब्रा ८।६।१।)।

इन सब दसों अप्सराओं में 'उर्वशी' यह अप्सरा, अर्थात् यह याम्योत्तरवृत्त है जिसके कि दो विभाग माने गए हैं। इसी याम्योत्तरवृत्त के आधार पर—जो कि मध्यरेखा नाम से प्रसिद्ध है—आयतन-अनायतनात्मक रात्रीय अहोरात्र का विभाजन हुआ है। रात्रि के बारह बजे से दिन के बारह बजे पर्यन्त आयतन-काल है एवं दिन के १२ बजे से रात्रि के १२ बजे पर्यन्त अनायतन-काल माना गया है। सूर्योदय से अहोरात्र का विभाग करना एक प्रकार है, एवं आयतन-अनायतन से अहोरात्र का विभाग करना एक प्रकार है। मध्यरात्रि के पीछे से सौरप्राण पार्थिव प्रजा के साथ संयुक्त होने लगता है। यही अह-काल का आरम्भ है। यहाँ से आरम्भ कर मध्याह्न के बारह बजे पर्यन्त यह प्राण निरन्तर हमारे साथ योग करता है। अनन्तर सौरप्राण हम से कम क्रमशः वियुक्त होने लगता है एवं इसकी यह वियुक्ति मध्यरात्रि पर्यन्त प्रक्रान्त रहती है। सौरप्राणयुक्तता अहःकाल की, तथा सौरप्राणवियुक्ति रात्रिकाल की स्वरूप-समर्पिका मानी गई है। अहोरात्र की इस सामान्य परिभाषा के अनुसार मध्यरात्रि से मध्याह्न पर्यन्त १२ बजे का काल अहःकाल कहलाएगा, एवं मध्याह्न के

१२ बजे से मध्यरात्रि पर्य्यन्त का काल रात्रिकाल माना जायगा। दोनों में प्रति
क्षेत्रप्राण 'मित्र-वरुण' कहलायेंगे। मित्रप्राणावच्छिन्न अहःकाल पूर्व
कहलाएगा 'वरुणप्राणावच्छिन्न रात्रिकाल पश्चिमकपाल' माना जायगा। इन दो
कपालों का विभाजक मध्याह्नवृत्त ही कहलाएगा, जिसे कि हमने उर्वशी क
कहा है। इसी मध्याह्नवृत्त से विभाजकस्थानात्मक पूर्व-पश्चिम कपालोपलक्षित अहो
का विभाजन हो रहा है। स्वयं उर्वशी अप्सरा के साथ मित्र-वरुण दोनों
का समन्वय हो रहा है इसी मध्य रेखा पर। जहाँ दोनों कपाल मिलते है
उर्वशी है। फलतः उर्वशी के साथ दोनों प्राणों का समन्वय सिद्ध है।

अहःकाल में व्याप्त मित्रप्राण आङ्गिरस होने से 'आग्नेय' है
रात्रिकाल में व्याप्त वरुणप्राण भार्गव होने से 'आप्य' है। तत्कला
प्राणात्मक यज्ञमण्डल में पूर्व-पश्चिम कपाल की सन्धि में ये दोनों आग्नेय व
प्राण प्रतिष्ठित हैं। कपालद्वयावच्छिन्न खगोल, अर्थात् तत्कलारमण्डल
पूर्वकथनानुसार सोमपरिपूर्ण कलश है। मध्याह्नवृत्त ही उर्वशी है। इसको मि
लाकर इसी कलश में मित्र के आग्नेय वीर्य्य की, तथा वरुण के आप्य व
की आहुति होती है। आहुत प्राणद्वयी से इस कुम्भ में शीतवीर्य्य, उष्णवी
र्य्य-अनुष्णाशीतवीर्य्य भेद से तीन नवीन यौगिक प्राणों का प्रादुर्भाव हो ग
है। शीतवीर्य्यप्राण सोमप्रधान है कुम्भ के उत्तरभाग में इसकी प्रतिष्ठा है। ये
प्राण 'वशिष्ठ' नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके लिए 'आपवाः'-'अप्सरा' 'वशि
ये तीन शब्द प्रधानरूप से प्रयुक्त हुए हैं। इसी करना, पानी और मिट्टी के समन्
'अग्निभक्षण को ठटमूल बनाते हुए, पानी को घनावस्था में परिणत करते
पानी को कमसान्तर में मिट्टी बना डालना इसी वशिष्ठप्राण की महिमा है
क्योंकि इनकी प्रधानता उत्तर में है। अतएव 'उत्तर प्रदेश में अमृत' प्र
तिष्ठित है।

उष्णवीर्य्य अग्निप्रधान है एवं कुम्भ के दक्षिण भाग में इसकी प्रधानता
है। ये दो नम्र भाङ्गिक प्राण 'आगस्त्य' नाम से प्रसिद्ध हैं। पानी का शोष
'करना अग्निप्राण का मुख्य कार्य है जिसके कि सम्बन्ध में पुराण क

स्वरूपवती 'सप्तपुरोपपद' आस्थान सर्वप्रतिष्ठ है । अनुष्टुपाद्यविर्भावमाण
म के मध्य में (मध्याकाश में) अपनी प्रधानता रखते हैं । इन्हीं को
'मत्स्य' कहा जाता है । ये ही वैदिक परिभाषा में 'साम्यमत्स्य' नाम से भी
प्रसिद्ध हैं । मिट्टी को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखना ही इनका मुख्य कर्म है ।

वसिष्ठ मिट्टी के प्रवर्तक हैं मत्स्य मिट्टी के रक्षक हैं, अगस्त्य मिट्टी को
पिण्ड बना कर इसे घन (पाषाण) रूप प्रदान करने वाले हैं । क्योंकि अगस्त्य
की प्रधान सत्ता दक्षिण में है अतएव दक्षिण भाग के पर्वत विशेषरूप से
घनात्मक बने रहते हैं । रजोगुण से इनका वर्ण भी आरम्भिकरूप से कृष्ण
रहता है, गुरुत्वाकर्षण भी अतिशयरूप से प्रतिष्ठित रहता है । निष्कर्ष यही हुआ
कि, मिश्रावस्था के आग्नेय-आप्य-सौम्यों के समन्वय से आधिदैविक महाद्वीप-
लक्षित स्वायम्भुवजगत् में वसिष्ठ, अगस्त्य, मत्स्य, नामक तीन प्राण आविर्भूत
हो जाते हैं ।

अब आधिभौतिक अग्नि-प्राण के उदाहरण पर दृष्टि डालिए । 'भृगु-
अङ्गिरा-अत्रि' इन तीनों का आधिदैविक स्वरूप जहाँ स्नेहतेज-प्रकाशरूपभावों
का प्रवर्तक बना हुआ है वहाँ इनके आधिभौतिकरूप से अर्चि-अङ्गार-
पार्थिवभस्मतिकणरूप इन तीन भावों की व्यवस्था हो रही है । एक
प्रज्वलित काष्ठ को लीजिये । इसका जितना 'ज्वाला' भाग है, वह भृगुप्राणमय
है । भृगुप्राण (स्नेहात्मक सोमप्राण) के संयोग से ही ज्वाला का स्वरूप
सुरक्षित है । दहकता हुआ अङ्गार अङ्गिराप्राणमय है । एवं ज्वाला, तथा अङ्गार
की प्रतिष्ठारूप स्वयं काष्ठपिण्ड अत्रिप्राणमय है । एक चमत्कार और देखिए ।
प्रथम बार जब आप काष्ठ जलाएँगे उस समय प्राथमिक अङ्गार का प्राण अङ्गिरा
कहलाएगा । यदि आप उस अङ्गार को बुझा कर पुनः बुझाए प्रदीप्त करेंगे, तो
अब वह प्राण द्वितीयावस्था में आया हुआ 'बृहस्पति' नाम से प्रसिद्ध होगा,
और यह वंशपरम्परा २१ सीमापर्यन्त चलेगी । इसी आधार पर 'एकविंशितिनोऽ
ङ्गिरस' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है । इसप्रकार भावों के तारतम्य से प्राण-
विपर्यय हो जाया करता है । अङ्गिरा तथा भृगु की इसी आधिभौतिक-व्याप्ति
को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है—

"अर्चिषि भृगुः सम्बभूव, अङ्गारेष्वङ्गिराः सम्बभूव। अथ यदङ्गारा अवशान्ताः पुनरुददीप्यन्त–तद् बृहस्पतिरभवत्"
(ऐतरेयब्राह्मण ३।३४।)

अब क्रमप्राप्त आध्यात्मिक सप्त ऋषियों का भी व्याकरणविधि से अनुक्रम लगा लेने का अनुग्रह कीजिए। केवल शिरः प्रदेश में सप्तर्षिप्राण व्याप्त हैं। इन सात ऋषिप्राणों में २ श्रोत्रप्राण दो श्रवण, अर्थात् दोनों कर्ण हैं। एवं एक प्राण एकाकी है। दो घ्राणप्राण दो नासाप्राण दो चक्षुप्राण ये २ दो नयन हैं उनमें वाङ्मय प्राण एकाकी है। शिरःकपाल ऐसा चमस, अर्थात् कटोरा है जिसका पेंदा तो ऊपर है, एवं बिल भाग नीचे की ओर है। इस अर्वाग्बिल ऊर्ध्वबुध्न चमस के तीरभाग (प्रान्त भाग में) ये सात आध्यात्मिक 'ऋषिप्राण' प्रतिष्ठित हैं। निम्नलिखित मन्त्र श्रुतियाँ इसी आध्यात्मिक तत्त्व का स्पष्टीकरण कर रही हैं।

१–साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः"
—ऋक्सं० १।१६४।१५

२–अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥
—शत० १४।५।२।५

३–"इमावेव गोतम–भरद्वाजौ। अयमेव गोतम, अयं भरद्वाजः। इमावेव–विश्वामित्रजमदग्नी। अयमेव विश्वामित्रः, अयं जमदग्निः। इमावेव वसिष्ठ-कश्यपौ। अयमेव वसिष्ठ, अयं कश्यपः। वागेवात्रिः। वाचा ह्यन्नमद्यते। 'अत्ति' र्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति। सर्वस्यात्ता भवति, सर्वमस्यान्नं भवति, य एवं वेद" (शत० १४।५।२।६)।

इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक जगत् में प्रतिष्ठित विविध वृत्तियों का सञ्चालन इन्हीं अन्तःप्राणों के आधार पर प्रतिष्ठित है। अङ्गिराप्राण से 'कर्म्मप्रवणता' न होती है। जिसका अङ्गिराप्राण मूर्च्छित रहता है वह सर्वथा अकर्म्मण्य बना बना रहता है। वसिष्ठप्राण से 'ओजस्विता' का उदय होता है। जिसका ष्ठप्राण अभिभूत रहता है उसका मुख कान्तिहीन उदासीन बना रहता है। प्राण से 'अनसूया' वृत्ति का उदय होता है। जिसमें अत्रिप्राण मूर्च्छित है वह सदा दूसरों की निन्दा किया करता है परदोषदर्शन का अनुगामी रहता है। पुलस्त्यप्राण से 'घातक' वृत्ति का साम्राज्य रहता है। क्रतुप्राण 'अध्यवसाय' वृत्ति जागरूक बनी रहती है। दक्षप्राण 'व्यवसायबुद्धि' का न्य प्रवर्त्तक माना गया है। भरद्वाजप्राण 'पुरन्ध्रिता'—तथा 'प्रजावात्सल्य' का धार माना गया है। जिसका कश्यपप्राण मूर्च्छित रहता है न तो वह प्रजा-पति का ही पात्र बनता न उसकी वृत्ति में वात्सल्य का ही उदय होता। धर्मिप्राण से 'आयुष्यस्वरूपरक्षा' तथा—'दृढ़ता' का उदय होता है। भृगु-ण से 'विद्याप्रवणता' का आविर्भाव होता है। अगस्त्यप्राण से 'परोपकार त्ति' जागरूक बनती है। मरीचिप्राण से 'स्वेदास्पत्ति' तथा 'स्वभावमार्दव' उदय होता है। निदर्शनमात्र है। हमारी आध्यात्मिक-संस्था में जितने भी स्वभाव प्रतिष्ठित हैं, उनकी मूलप्रतिष्ठा ये ही अन्तः-प्राण हैं। प्राणों के रतम्य से विशेषता से ही प्राणियों की वृत्ति में तारतम्य, एवं विशेषताएँ उत्पन्न ती हैं। एवं अन्तर्याम-सृष्टिप्राण का यही संक्षिप्त स्वरूप-निदर्शन है।

अब दो शब्दों में क्रमप्राप्त 'रोचनावयव' सृष्टिप्राण की भी मीमांसा कर ना उचित होगा। सुप्रसिद्ध नाक्षत्रिक ऋषि ही रोचनावयव ऋषि हैं। नक्षत्र जितने भी नक्षत्र हैं वे सब भिन्न भिन्न प्राणों की प्रतिकृतियाँ हैं। [illegible]- जिस नक्षत्र में जिस प्राण की प्रधानता है वह नक्षत्र उसी प्राण के नाम से सिद्ध हो रहा है। यद्यपि प्रत्येक इनका यदि अन्तर्याम प्राणों में अन्तर्भाव र लिया जाता है, तो दोनों के दो स्वतन्त्र विभाग न होकर एक ही विभाग रह ता है। अन्तर्याम प्राण जिस प्रकार विविध वृत्तियों के प्रवर्त्तक बनते हैं, नेव वे नाक्षत्रिक प्राण भी नृकर्म्म में प्रधान सहायक बनते रहते हैं।

र्ण होने से ही इसे 'रोहिणी' कहा गया है । फलशास्त्र के मतानुसार यही रामतापिन्यमकरण की 'कमला' अर्थात् लक्ष्मी है । इसके दर्शन से सम्पत्ति मानी है शकुनशास्त्री के आचार्यों ने । अभ्युत्थानलक्षण आरोहणकर्म से भी इसे 'रोहिणी' कहना समर्थ बनता है । इस रोहिणी नक्षत्र से ठीक १८०अन्तर पर, अर्थात् १८० अंश पर समसूत्र दक्षिणाकाश में वृश्चिकराशि से सम्बन्ध रखने वाला एक ज्योतिर्मय नक्षत्र और है जो कि 'ज्येष्ठा' नाम से प्रसिद्ध है । फलशास्त्र ने इसी को 'धूमावती' अर्थात् अलक्ष्मी माना है । यही अपरोहिणी–लक्षणा निम्न विवेचना है दरिद्रा है । इसका दर्शन अशुभ माना गया है । जो इस नक्षत्र में उत्पन्न होता है वह भाग्यहीन शान्ति की अपेक्षा रखने वाला माना गया है ।

रोहिणी नक्षत्र से ईशानकोण की ओर 'प्रजापतिहृदय' नामक जो नक्षत्र है वह प्रजापति का मन्त्रशरीर है । रोहिणी नक्षत्र से पूर्वस्थ मृगमुखमस्तकाकृतिरूप मृगशिर–नक्षत्र प्रजापति का मग्न मस्तक है । इस मस्तकरूप मृगशिरा–नक्षत्र में तीन तेजस्वी तारों का सम्बन्ध हो रहा है । यही रुद्र के हाथ से निकला हुआ इषुरूप शर है बाण है । रोहिणी नक्षत्र से पूर्व अग्निकोण की ओर महातेजस्वी, नीलवर्ण का जो एक चमत्कारपूर्ण नक्षत्र है वही 'लुब्धक' नाम से प्रसिद्ध है । जो विद्युत्–वेग् अपनी चमचम द्युति से द्रष्टाओं को सदा अपनी ओर आकर्षित किया करता है । यही नीलकण्ठ महादेव है । सूर्य्येतर जिस वस्तु को चतुर्दिक्स्थित अहोरात्रों में हृत करता है लुब्धकरूप उसे क्षणमात्र में भस्मसात् करने की शक्ति रखता है ऐसी धारणा है । दुर्भाग्य से यदि कहीं सूर्य्य लुब्धक के सन्निकट पहुँच जाए, तो सूर्य्य क्षणमात्र में भस्मरूप बन कर उत्क्रान्त हो सकता है । जिस प्रकार उदुम्बरफल (गूलर के फल) में सम्पूर्ण ओषधियों का तत्त्व संगृहीत है, एवमेव लुब्धक नक्षत्र में यथावत् सम्पूर्ण नक्षत्रों का तत्त्व संगृहीत है । अतएव इसे 'पशुपति' कहना समर्थ बनता है ।

इसप्रकार पुराणोपलक्षित रोहिणी नक्षत्र के आधार पर प्रतिष्ठित यह पार्थिव आख्यान आदर्श–शिक्षा के साथ साथ नक्षत्रविद्या का भी भलीभाँति स्पष्टीकरण कर रहा है, जिसका कि विशद विवेचन 'ऋषिहृदय'

नामक ग्रन्थ निबन्ध में द्रष्टव्य है । प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, सर्वदा
चलते वाले भाग भी सृष्टिप्रवर्तक ऋषि ही माने गए हैं । इन नाक्षत्रिक ज्योति
में से सुप्रसिद्ध 'सप्तर्षिमण्डल' तो प्रसिद्ध ही है, जो कि ध्रुव के चारों ओर
अहोरात्र में एक परिक्रमा लगा लेते हैं । इन्हीं सप्तर्षियों को (भालू की आकृति
से युक्त रहने के कारण) 'ऋक्ष', अर्थात् रीछ-भालू नाम से भी व्यव
किया गया है । जिस समय आग्नेय कृत्तिका नक्षत्र पर अयन-सम्पात था, उ
समय इन कृत्तिका नक्षत्रों को (जो कि संख्या में सात हैं) सप्तर्षिगण की सं
माना जाता था जैसा कि निम्न लिखित ब्राह्मण-श्रुति से प्रमाणित है—

"एकं, द्वे, त्रीणि, चत्वारीति वाऽन्यानि नक्षत्राणि । अथै
एव-भूयिष्ठाः, यत् कृत्तिकाः । एता ह वै प्राच्यै दिशो न
च्यवन्ते । सर्वाणि ह वाऽन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते
ऋक्षाणां ह वाऽएता अग्रे पत्न्य आसुः । सप्तर्षीन् उ ह स्म वै पुरक्ष
इत्याचक्षते । अमी ह्युत्तरा हि सप्तर्षय उद्यन्ति, पुर एताः" ।

—शत० ब्रा० २।१।२।४।

इस सप्तर्षिमण्डल के अतिरिक्त एक दूसरा छोटा सप्तर्षिमण्डल और है
जिसका कि ध्रुवस्थान से सम्बन्ध है । यह सप्तर्षिगण 'लघुमाला' नाम से प्रसि
है एवं यही ध्रुव की पहिचान है । इन सातों में से ६ नक्षत्र तो घूमते रहते हैं,
एक नक्षत्र घूमता प्रतीत नहीं होता । अतएव इसे 'ध्रुव' कह दिया जाता है ।
वस्तुतः ध्रुव किसी नक्षत्र का नाम नहीं है । अपितु ध्रुव तो एक निराकार मन
विन्दु-तत्त्व है, जिसके आकर्षण से आकर्षित भूपिण्ड स्वाक्षपरिभ्रमण के द्वारा
दैनन्दिनगति का प्रवर्तक बना रहता है । यह विन्दु-तत्त्व पार्थिव पिण्डरूप की
आधारभूमि बनता हुआ नाभिरूप विन्दु के चारों ओर परिक्रमा लगाया करता है ।
एवं इसकी यह एक परिक्रमा २५ हजार वर्ष में समाप्त होती है जो कि अयन-
परिक्रमा—'अयनपरिभ्रमण' नाम से प्रसिद्ध है । जिस समय जिस स्थान पर
यह मन विन्दु-तत्त्व प्रतिष्ठित रहता है वहीं के स्थान नक्षत्र को (परिभ्रमण के

[इ]स नाम से दिया जाता है। इसी सामान्य परिभाषा के अनुसार आज हमने [ध्रु]वक नाम से एक नक्षत्र की कल्पना कर रखी है। वस्तुतः ध्रुवकम इन [नक्षत्रों] से भिन्न सातवें नक्षत्रों से उपलक्षित ध्रुवभाग है जिसकी कि उपासना का [आधा]र सातवाँ स्थूल नक्षत्र बना हुआ है। यदि नियमपूर्वक ध्रुव की आराधना की [जाती] है, तो हमारी मेधा भी, सम्यक् रूप की अभिवृद्धि हो जाया करती है। [ध्रु]वमरा प्रदक्षिण करना ही ध्रुवोपासना है जिसका कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन [मे] स्पष्टीकरण हुआ है—

> जज्ञान सप्त मातृभिर्मेधामाशासत श्रिये।
> अयं ध्रुवो रयीणां चिकेतदा॥
>
> —सामसंहिता पृ० २।१।

इनके अतिरिक्त अथर्वाङ्गि अपांसस नारद तुम्बुरु यास्यमत्स्य, भृगु, [अ]ङ्गिरा आदित्य अग्नि वरुण यम निर्ऋति बृहस्पति सविता आदि [अ]नेक नाक्षत्रिक अनन्त ऋषिप्राण और हैं जिनका भिन्न भिन्न इष्टिकर्मों में [आ]वश्यकतारूप से उपयोग हो रहा है। यही रोचनात्मक-ऋषि का दूसरा विभाग [है।] एवं यही ऋषिप्राण की दूसरी व्याप्ति है।

अब प्रस्तुत प्रकरण ऋषि शब्द की ओर जिज्ञासु श्रोताओं का ध्यान [आ]कर्षित किया जा रहा है। वेद का स्वरूप-विचार प्रक्रान्त है। वेदतत्त्व से अभिन्न [ऋषि] तत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले प्राणलक्षण ऋषि, एवं नाक्षत्रिक-लक्षण ऋषि, [इ]न दो ऋषि-विवर्तों का स्वरूप अब तक बतलाया गया है। तीसरा विभाग द्रष्टालक्षण [ऋ]षि का माना गया है। इनके सम्बन्ध में भी दो शब्द निवेदन कर देना अप्रास[ङ्गि]क न होगा। नित्यसिद्ध वेदतत्त्व के द्रष्टा ऋषि ही मुख्यसिद्ध द्रष्टा ऋषि हैं। सर्व[विद्]विदिग् सर्वशक्ति, अभ्यवबद्धानुप्रहीत आप्तप्रज्ञाप्राप्ति निरत संस्कार, एवं शब्दोपाधि के भेद से ब्रह्म-विद्या-वेद, इन भावों में परिणत हो रहे हैं, जैसा कि आरम्भ में निवेदन किया जा चुका है। प्राण देवता, भूत, मैत्रकादि रूपों का निबन्ध [का]र्य-कारण भाव ही 'विद्या' है। नित्यतत्त्व का यथार्थ स्वरूपपरिज्ञान ही विद्या

मामक ग्रन्थ निबन्ध में द्रष्टव्य है। प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, नक्षत्रों के पहने वाले भाग भी सप्तर्षिमण्डल श्रुति ही माने गए हैं। इन मानविक ऋषियों में से सुप्रसिद्ध 'सप्तर्षिमण्डल' तो प्रसिद्ध ही है, जो कि ध्रुव के चारों ओर अहोरात्र में एक परिक्रमा लगा लेते हैं। इन्हीं सप्तर्षियों को (भालू की भांति के मुख्य रहने के कारण) 'ऋक्ष', अर्थात् रीछ–भालू नाम से भी स्मरण किया गया है। जिस समय प्रांमेव कृत्तिका नक्षत्र पर वसन्त-सम्पात था, उस समय इन कृत्तिका नक्षत्रों को (जो कि संख्या में सात हैं) सप्तर्षिगण ही माना जाता था जैसा कि निम्न लिखित ब्राह्मण–श्रुति से प्रमाणित है—

"एकं, द्वे, त्रीणि, चत्वारीति वाऽन्यानि नक्षत्राणि। अथैता एव-भूयिष्ठा, यत् कृत्तिका। एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते। सर्वाणि ह वाऽन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते। ऋक्षाणां ह वाऽएता अग्रे पत्न्य आसुः। सप्तर्षीन् नु ह स्म वै पुर ऋक्षा इत्याचक्षते। अमी ह्युत्तरा हि सप्तर्षय उद्यन्ति, पुर एता"।

—शत० ब्रा० २।१।२।३।

इस सप्तर्षिमण्डल के अतिरिक्त एक छुटा छोटा सप्तर्षिमण्डल और जिसका कि ध्रुवतारक से सम्बन्ध है। यह सप्तर्षिगण 'लघुमाला' नाम से प्र है एवं यही ध्रुव की पहिचान है। इन तारों में से १ नक्षत्र तो घूमते रहते एक नक्षत्र घूमता प्रतीत नहीं होता। अतएव इसे 'ध्रुव' कह दिया जाता वस्तुतः ध्रुव किसी नक्षत्र का नाम नहीं है। अपितु ध्रुव तो एक निराकार बिन्दु-दृष्टान्त है जिसके आकर्षण से आकर्षित भूपिण्ड स्वाक्षपरिभ्रमण के। वैवस्वितमनादि का प्रवर्तक बना रहता है। यह बिन्दु दृष्टान्त पार्थिव विष्वद्वृत्त आधारभूमि बनता हुआ नाक्षत्र विष्णु के चारों ओर परिक्रमा लगाया करता एवं इसकी यह एक परिक्रमा २६ हजार वर्ष में समाप्त होती है जो कि अयन परिक्रमा—'अयनपरिभ्रमण' नाम से प्रसिद्ध है। जिस समय जिस स्थान पर यह बिन्दु दृष्टान्त प्रतिष्ठित रहता है वहाँ के स्थूल नक्षत्र को (परिचय के लि

जिस प्रकार वेदशब्द मन्त्र के अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है एवमेव मन्त्र
र वेदाभिप्राय से भी प्रयुक्त हुआ है जैसा कि "ऋग्भिर्वेदमन्त्र" इत्यादि
स्थलों से प्रमाणित है। 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'—"साक्षात्-कृतधर्माण ऋ
षयो बभूवुः" इत्यादि में पठित 'मन्त्र' शब्द वेदात्मक विज्ञानतत्त्व का
ग्रहण कर रहा है। ऋषियों ने वेदतत्त्व को देखा है वेदतत्त्व का साक्षात्
ने से ही वे मन्त्र-द्रष्टा ऋषि कहलाए हैं। इसप्रकार वेदविद्या तथा शब्दात्मक
न, दोनों में (शब्दार्थ के तादात्म्य से) व्यवहार प्रचलित है।

अथवा स्वयं 'मन्त्र' शब्द को ही शब्द और अर्थ दोनों का वाचक समझो
एक दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। वर्णानुपूर्वीलक्षण शब्द तथा शब्द
प्रत्य तात्त्विक देवताविज्ञानात्मक अर्थ दोनों के लिए मन्त्रशब्द नियत है।
को भी मन्त्र कहा जा सकता है तत्त्वप्रतिपादक शब्द को भी मन्त्र माना
सकता है। शब्दात्मक मन्त्र मन्त्रसंहितारूप से प्रसिद्ध है। एवं तत्त्वात्मक
का ब्राह्मणतत्त्व से सम्बन्ध है। तत्त्व और शब्द दोनों में 'व्याप्यव्यापकता' से
स्थित रहने वाला मन्त्रशब्द 'समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते'
न्याय के अनुसार तत्त्ववेद का भी वाचक बन सकता है एवं शब्दवेद का भी
क माना जा सकता है। दूसरे शब्दों में—शब्दोपसृष्ट विज्ञान में निरूढ मन्त्र
द शब्दराशि के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है एवं शब्दराशि प्रतिपादित
ज्ञान के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है। 'ब्रह्म वै मन्त्रः' (शत० ७।१।१।५)
आदि ब्राह्मणश्रुति के अनुसार मन्त्रसमानार्थक ही 'ब्रह्म' शब्द है। एवं यह
शब्द व्याप्यव्यापकतया परलक्षण अर्थब्रह्म तथा अपरलक्षण शब्दब्रह्म दोनों
युक्त रहता हुआ प्रत्येक के लिये भी प्रयुक्त होता देखा गया है जैसा कि
म्न लिखित आर्षवचन से प्रमाणित है—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

निष्कर्ष यह हुआ कि शब्दसंदर्भ को भी मन्त्र कहा जा सकता है एवं
प्रतिपाद्य विद्यातत्त्व भी मन्त्र माना जा सकता है। विद्यात्मक, अर्थात् तत्त्वात्मक

है। यदि पूर्वोदित संस्कार से अभिनिम में आने वाला (व्यक्त होने वाला) की निवृत्ति लक्ष्य लिया है। एवं शब्दमात्रा धर्म्म अर्थात् विषय से व्यक्त होने वाला की निवृत्तिलक्ष्य 'ब्रह्म' है तथा वाक् से व्यक्त होने वाला वही निवृत्तिलक्ष्य वेद है। संस्कारावच्छिन्न वही लक्ष्यज्ञान लिया है विषयावच्छिन्न वही लक्ष्यज्ञान ब्रह्म है। एवं शब्दावच्छिन्न वही लक्ष्यज्ञान 'वेद' है।

यद्यपि सर्वसाधारण की दृष्टि में वेद, और मन्त्र शब्द परस्पर पर्य्याय बने हुए हैं। इसी साधारण दृष्टि के आधार पर मन्त्रब्राह्मणात्मक संहितामात्र को वेद माना जा रहा है। परन्तु वस्तुतः वेदशब्द संज्ञी है एवं मन्त्रशब्द संज्ञा है। वेद मन्त्र नहीं है अपितु वेद का नाम मन्त्र है। जिन मन्त्रों में जो देवता-विज्ञान प्रतिपादित है वह नित्यसिद्ध विज्ञानतत्त्व वेद है। एवं इस देवताविज्ञान के स्पष्टीकरण करने वाली शब्दराशि मन्त्र है। शब्दात्मक मन्त्र वाचक है तदात्मक वेद वाच्य है। इसप्रकार संज्ञा-संज्ञी के भेद से यद्यपि मन्त्र तथा वेद दो भिन्न भिन्न अर्थों में व्यवस्थित हैं। तथापि दोनों के अर्थात् शब्दार्थ के औत्पत्तिक सहज तादात्म्य-सम्बन्ध को लक्ष्य में रख कर मन्त्र को भी वेद कह दिया जाता है वेद को मन्त्र शब्द से व्यवहृत कर दिया जाता है जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥

प्रत्यक्ष अनुमान शब्द, भेद से प्रमाणज्ञान के तीन साधन माने गए हैं। जहाँ प्रत्यक्ष तथा अनुमान-प्रमाण की गति अवरुद्ध हो जाती है ऐसे अतीन्द्रिय तत्त्वों के सम्बन्ध में तीसरे शब्दप्रमाणरूप आप्तप्रमाण का ही आश्रय लिया जाता है। उक्त वचन 'एनं विदन्ति वेदेन' से इस शब्दप्रमाण का ही निर्देश हुआ रहा है। इसप्रकार यहाँ का वेद शब्द शब्दरूप मन्त्रप्रमाण के अभिप्राय से प्रयुक्त है। यह सब कुछ ठीक होने पर भी यह सिद्धान्त-पक्ष है कि, शब्दोपपादित देवताविज्ञान 'वेद' है एवं देवताविज्ञानोपपादक शब्द मन्त्र है। इसी भेददृष्टि को लक्ष्य में रख कर अब क्रमप्राप्त-'ऋषि' का विचार प्रस्तुत है।

जिस प्रकार शब्दात्मक मन्त्र के अभिप्राय से प्रयुक्त होता है एवमेव मन्त्र
र वेदाभिप्राय से भी प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि "ऋषिर्वेदमन्त्र" इत्यादि
वाक्यों से प्रमाणित है। "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः"–"साक्षात्-कृतधर्माण
ऋषयो बभूवुः" इत्यादि में पठित 'मन्त्र' शब्द वेदात्मक विज्ञानतत्त्व का
वाचक बन रहा है। ऋषियों ने वेदतत्त्व को देखा है वेदतत्त्व का साक्षात्
करने से ही वे 'मन्त्र-ऋषि' कहलाए हैं। इसप्रकार वेदविद्या तथा शब्दात्मक
न, दोनों में (शब्दार्थ के तादात्म्य से) व्यवहार प्रचलित है।

अथवा स्वयं 'मन्त्र' शब्द का ही शब्द और अर्थ दोनों को वाचक समझते
(एक दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए)। वर्णानुपूर्वीलक्षण शब्द तथा शब्द
प्रतिपाद्य तात्त्विक वेदतत्त्वविज्ञानात्मक अर्थ दोनों के लिए मन्त्रशब्द नियत है।
न को भी मन्त्र कहा जा सकता है तत्त्वप्रतिपादक शब्द को भी मन्त्र माना
जाता है। शब्दात्मक मन्त्र मन्त्रसंहितारूप से प्रसिद्ध हैं। एवं तत्त्वात्मक
न का प्राणतत्त्व से सम्बन्ध है। तत्त्व और शब्द दोनों में 'व्याप्यव्यापकवृत्ति से
वेष्टित रहने वाला मन्त्रशब्द 'समुदाये प्रवृत्ताः शब्दाः अवयवेष्वपि वर्तन्ते'
न्याय के अनुसार तत्त्ववेद का भी वाचक बन सकता है एवं शब्दवेद का भी
वाचक माना जा सकता है। दूसरे शब्दों में–शब्दोत्पत्ति विज्ञान में निरुक्त मन्त्र
शब्दराशि के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है एवं शब्दराशि-प्रतिपादित
ज्ञान के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है। 'प्राणा वै मन्त्रः' (शत ७।१।२।१९)
आदि शास्त्रश्रुति के अनुसार मन्त्रसमानार्थक ही 'ब्रह्म' शब्द है। एवं यह
ब्रह्म व्याप्तव्यापकता परलक्षणया अर्थप्रपञ्च तथा अपरलक्षणया शब्दप्रपञ्च दोनों
युक्त रहता हुआ प्रत्येक के लिए भी प्रयुक्त होता देखा गया है, जैसा कि
निम्न लिखित आर्षवचन से प्रमाणित है–

> द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
> शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

निष्कर्ष यह हुआ कि वाक्यसंदर्भ को भी मन्त्र कहा जा सकता है एवं
तत्प्रतिपाद्य विद्यातत्त्व भी मन्त्र माना जा सकता है। विद्यात्मक अर्थात् तत्त्वात्मक

मन्त्रों का ऋषियों ने अपनी आर्षदृष्टि से साक्षात्कार किया इसी अभिप्राय से 'मन्त्रद्रष्टा' कहलाये। एवं अपने इस अर्थ के आधार पर इस अर्थ के दर्शन के लिए उन्होंने तात्त्विक भाव के आधार पर शब्द व्यवस्थित किए। इस प्र- क्रिया का नाम ही वाक्यरचना कहलाया। इन वाक्यरचनात्मक मन्त्रों के प्र- माण से इन्हीं मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को 'मन्त्रकृत्' माना गया। जो ऋषि मन्त्र अर्थात् तत्त्वद्रष्टा हुए हैं वे ही मन्त्रकृत् कहलाए। जिन्होंने मन्त्रों का, श- ब्दात्मक मन्त्रों का तात्पर्य भलीभाँति समझ लिया, वे 'मन्त्रवि- त्' कहलाए। एवं जिस मन्त्र में जिस अभिप्राय का निरूपण हुआ वह मन्त्र ऋषि 'मन्त्रपति' कहलाया। इसप्रकार दर्शन शब्दव्यवस्थापन वेदन आ- त्मसात् आदि भावों के भेद से प्रायशिक तथा मानुषीविध ऋषियों के 'मन्त्रद्र- ष्टा-मन्त्रकृत्-मन्त्रपति-मन्त्रवित्' आदि अनेक भेद हो गए जिनका निम्न लिखित वेदमन्त्रों से स्पष्टीकरण हो रहा है—

१ यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिण अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमे-
 तां देवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लो-

२—नमो ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्य ।
 मा मा ऋषयो मन्त्रकृतो मन्त्रविदः प्राहुर्दैवीं वाचम् ॥

३—ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिरः ।
 सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुधां पतिः ॥
 —ऋक्सं० ९।११४।२।

यदि मानव-ऋषि ही वेदमन्त्रों के कर्ता हैं तो 'अनादिनिधना नि- त्यावागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' इत्यादि स्मृतियों का समन्वय कैसे होगा ?, इस प्र- श्न की विशद-मीमांसा के लिए तो स्वतन्त्र प्रकरण ही देखना चाहिए। प्रकृत इसके सम्बन्ध में केवल यही निवेदन किया जा सकता है कि, जिन मनुष्यों आप्त महर्षियों ने तत्त्वात्मक वेद का साक्षात्कार किया अथवा यों कहो नित्य स्वयं वागीश्वर की प्रेरणा से इन तत्पूत महर्षियों के पवित्र अन्तः

त हुआ, वही वेदतत्त्व ऋषि-द्वारा वेद कहलाया एवं इसी अभिप्राय से 'मन्त्रद्रष्टा' कहा गया। निम्न लिखित श्रुति-स्मृति-वचन इसी प्रघट्टकार्थ का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

युद्धा ऋषय प्रथिमुपुषिरे, य उ तर्हि ऋषय आसु' ।
ये समुद्रादभिरखनन् देवास्तीक्ष्णाभिरभ्रिभिः ।
सुदेवो अद्य तद्विद्यात् यत्र निर्वपणं दधु ॥
अजान् ह वै पृश्नीन् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् ।
तद् ऋषीणां ऋषित्वम् ।
यज्ञेन वाचः पदवीयमायंस्तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम् ।
युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय' ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥

जो जिस विषय का साक्षात्कार कर लेता है वह उस विषय का 'द्रष्टा' मान [illegible] जाता है। इसी को 'प्राप्त' अर्थात् विषयप्राप्त, लोकभाषानुसार पहुँचवान कहा है। विषयविभाग स्पष्ट इष्ट-अदृष्ट भेद से दो मार्गों में विभक्त हैं। विषयों को हम अपनी इन्द्रियों से देख सकते हैं वे सब लौकिक विषय [illegible]-अर्थ हैं। एवं आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग अपि पितर इत्यादि मार्ग [illegible] जिन विषयों का (भूतमर्यादा से अतीत होने के कारण) हम अपनी [illegible]यों से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते वे सब अतीन्द्रिय विषय अलौकिक किंवा [illegible]लौकिक कहते हुए 'अदृष्ट अर्थ' माने गए हैं। क्योंकि पदार्थ दो जातियों [illegible]विभक्त हैं अतएव द्रष्टा भी दो मार्गों में ही विभक्त मानने पड़ेंगे। लौकिक [illegible]र्थों के द्रष्टा जहाँ 'लौकिक' कहलाएँगे, वहाँ अलौकिक विषयों के द्रष्टा को 'ऋषि' नाम से व्यवहृत किया जायगा।

द्रष्टा के इस प्रपञ्च को 'भौतिक, दैविक, अतीन्द्रिय' भेद से तीन मार्गों [illegible]विभक्त किया जा सकता है। जो मानव इन्द्रियों के द्वारा भौतिक पदार्थों के [illegible] बनते हैं भौतिक विज्ञान के अन्वेषक बनते हैं, इन्हें 'आप्त' शब्दद्वारा कहा

मन्त्रों का ऋषियों ने अपनी आर्षदृष्टि से साक्षात्कार किया इसी अभिप्राय से 'मन्त्रद्रष्टा' कहलाये। एवं अपने इस अर्थ के आधार पर इस अर्थ के स्वरों के लिए उन्होंने वाचिक वाक् के आधार पर शब्द व्यवस्थित किए। इस अवस्था का नाम ही वाक्यरचना कहलाया। इन वाक्यरचनात्मक मन्त्रों के प्रथम से इन्हीं मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को 'मन्त्रकृत्' माना गया। जो ऋषि मन्त्र अर्थात् तत्त्वद्रष्टा हुए हैं, वे ही मन्त्रकृत् कहलाए। जिन्होंने मन्त्रों का शब्दात्मक मन्त्रों का तात्पर्य भलीभाँति समझ लिया वे 'मन्त्र' कहलाए। एवं जिस मन्त्र में जिस ऋषिप्राण का निरूपण हुआ, ऋषि 'मन्त्रपति' कहलाया। इसप्रकार दर्शन शब्दस्वरूपापन्न वेदन इत्यादि भावों के भेद से प्राणविध तथा प्राणीविध ऋषियों के 'मन्त्रद्रष्टा मन्त्रकृत्-मन्त्रपति-मन्त्रविद्' आदि अनेक भेद हो गए, जिनका निम्न लिखित वेदमन्त्रों से स्पष्टीकरण हो रहा है—

१ यासृपयो मन्त्रकृतो मनीषिण अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण तां देवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके
२—नमो ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्य ।
मा मा ऋषयो मन्त्रकृतो मन्त्रविदः प्रादुर्देवी वाचम् ॥
३—ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिरः ।
सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुधां पतिः ॥
—ऋक्सं० ९।११४।२।

यदि मानव-ऋषि ही वेदमन्त्रों के कर्ता हैं तो 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' इत्यादि स्मृतियों का समन्वय कैसे होगा ?, इस प्रश्न की विशद-मीमांसा के लिए तो स्वतन्त्र प्रकरण ही देखना चाहिए। प्रकृत इसके सम्बन्ध में केवल यही निवेदन किया जा सकता है कि, जिन मनुष्यादि आप्त महर्षियों ने तपसा वेद का साक्षात्कार किया अथवा यों भी कहिए स्वयं परमेश्वर की प्रेरणा से इन तपःपूत महर्षियों के पवित्र अन्तःकरणों

अमुक अमुक मन्त्र का वक्ता है । इस विवक्षामात्र से महर्षि भी ऋषि नाम से चुने गए हैं । 'बृहद्देवता' के अनुसार मन्त्रवर्ग 'देवस्तव-संवाद-आत्मस्तव-आख्यानवृत्त' भेद से चार भागों में विभक्त हैं । यदि आख्यानवृत्त वर्ग का देवस्तववर्ग में अन्तर्भाव कर लिया जाता है तो तीन ही वर्ग शेष रह जाते हैं ।

अव्यक्तात्मक अतएव रूपात्मक प्राणरूप ऋषितत्त्व ही मौलिक वेद का स्वस्वरूप है । दूसरे शब्दों में प्राणात्मक 'ऋषि' तत्त्व ही मौलिक वेद है जिसके अविज्ञेय–दुर्विज्ञेय–विज्ञेय–सुविज्ञेय आदि विविध प्रकार के चिरन्तन इतिहास हैं, जिनका जानना प्रत्येक भारतीय आर्यमानव के लिए आवश्यक है । मायातीत, अतएव विश्वातीत परात्पर परमेश्वर से अभिन्न अनन्तमायापन्न वही मौलिक वेद अविज्ञेयवेद है । मायामय अतएव सहस्रवल्शेश्वरात्मक अमृतमृत्युमय महेश्वर से अभिन्न सहस्रमायापन्न वही मौलिक वेद दुर्विज्ञेयवेद है । योगमाया-वच्छिन्न अतएव एकवल्शेश्वरात्मक अमृत शुक्रात्मक उपेश्वर से अभिन्न वही मौलिक वेद विज्ञेयवेद है । एवं मूलमायावच्छिन्न (मूलमायावच्छिन्न) अतएव अश्वत्थप्रभागात्मक मर्त्यप्राधान्यानुगत पुण्यानुगत ईश्वर से अभिन्न वही मौलिक वेद सुविज्ञेयवेद है । इन चारों वेदस्थानों में से अन्तिम चतुर्थ सुविज्ञेय वेद का मौलिक स्वरूप ही महाव्रतमहर्षि के द्वारा इस यह 'सावित्राग्नि' है जिसके परिज्ञान से, उपासना से वेदस्वरूप पदार्थ बन जाया करता है जिसकी कि पावन चर्चा पूर्व में निर्दिष्ट है । यही चतुर्धा विभक्त मौलिक वेद का संक्षिप्त चिरन्तन इतिहास है जिसकी मौलिकता उस 'ऋषि' पदार्थ पर ही प्रतिष्ठित है जो कि वेदात्मक ऋषि-पदार्थ असत्-शासन-द्रष्टृ वक्तृ-भेद से चार संस्थानों से परिगृहीत है ।

१–मायातीतः–परमेश्वरः—सर्वातीत सर्वमः—तदभिन्नः–'अविज्ञेयवेदः' ।

२–मायामयः–महेश्वरः—सहस्रवल्शेश्वरः—तदभिन्नः–'दुर्विज्ञेयवेदः' ।

३–योगमायी—उपेश्वरः—एकवल्शेश्वरः—तदभिन्नः–'विज्ञेयवेदः' ।

४–मूलमायी—ईश्वरः—अश्वत्थप्रतिष्ठितः—तदभिन्नः–'सुविज्ञेयवेदः' ।

जा सकता है, किन्तु उन्हें ऋषि नहीं माना जा सकता। वे ही मान्य द्रष्टा कहलाएँ वे जो आर्षदृष्टि से दैविक, तथा अतीन्द्रिय-अर्थों का प्रत्यक्ष कर। यही आर्षदृष्टि आर्षग्रन्थ में 'आर्षदृष्टि' (ऋषिदृष्टि) नाम से प्रसिद्ध है कि सर्वसाधारण में नहीं हुआ करती। पूर्वजन्म के तपोऽनुष्ठान से, अथवा तपोऽनुष्ठान से यह ऋषिदृष्टि स्वतः प्रादुर्भूत होती है। इसी को अलौकिक-दृष्टि कहा जाता है। मानवेतर प्राणियों में इस दृष्टि के सम्बन्ध में जो विचार हुआ है वह भी अन्यत्र ही द्रष्टव्य है। ऐसे अतीन्द्रियार्थ-द्रष्टाओं के लिए भूतभवि साक्षात् वर्तमानवत् बने रहते हैं। ऐसे अतीन्द्रियार्थद्रष्टा अलौकिक प्राप को ही द्रष्टा-ऋषि कहा जा सकता है कहा गया है कहना चाहिए। एवं ऋषिसम्प्रदाय की दम्पत्यवशात् तीसरी प्रवृत्ति है। क्योंकि वे द्रष्टा ऋषि ही वे के प्रवर्तक हैं, अतएव इन्हें 'वेदप्रवर्त्तक' माना कहा जा सकता है।

आविर्भूतप्रकाशानामनभिप्लुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥१॥
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
ये भावा वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥२॥

(४)—अब ऋषि का चौथा विभाग शेष रह जाता है–'वाक्यार्थ ऋषि'। मान्त्रवर्णिक ऋषि को ही 'वाक्यार्थ ऋषि' कहा गया है। प्रत्येक मन्त्र जिसका वाक्य है वह उस मन्त्र का ऋषि है। एवं मन्त्र में जिस अर्थात् तत्त्व का प्रतिपादन हुआ है वह उस मन्त्र का देवता है। जिन में तात्त्विक अर्थ का आर्षदृष्टि से देख कर वाक्यरूप से शब्दात्मक म उपदेश किया है, वे ही उन वाक्यात्मक मन्त्रों के प्रवक्ता माने गए हैं। ऋषियों ने ही इन मन्त्रों का उपदेश किया है अतः वे ही इन मन्त्रों के ऋषि माने गए हैं।

कहीं कहीं ऋषियों को भी ऋषि मान लिया गया है। और इसका है विवक्षा। किसी ने मन्त्र कहा नहीं है, परन्तु वह मान लिया गया है

'यो वास्मै तन्वं विसस्रे—जायेव पत्य उशती सुवासाः' (ऋक्सं०) इस वैदिक वचन के अनुसार स्वयं वेदपुरुष ही अपना वास्तविक स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित न कर दें।

उदाहरण के लिए उपनिषदों को ही लीजिए। क्या उपनिषद् केवल ब्रह्म-परमात्मा की ही प्रतिपादक हैं? क्या सृष्टिविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले वास्तविक वैज्ञानिक भावों का स्वरूप-निरूपण उपनिषदों में नहीं हुआ? बहुत ही दुरूह प्रश्न हैं ये जिनके समाधान के लिए तो किसी स्वतन्त्र वक्तव्य को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा। प्रकृत में केवल एक उपनिषत् की संक्षिप्त सी तालिका वेदस्वरूपप्रेमियों के सम्मुख इस दृष्टि से हम उपस्थित करना चाहते हैं कि, जिसके आधार पर वे यह अनुमान लगा सकेंगे कि-'अक्षयब्रह्म-आत्मतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित यही विज्ञानमय पुरुष अपने किन किन वैज्ञानिक तत्त्वों का कैसी मधुभाषा में किस व्यवस्थाकौशल से विश्लेषण कर रहा है या कि केवल ज्ञानवाद के विजृम्भण के कारण सर्वथा ही हमारी प्रज्ञा से पराक्परावृत्त बन गया है अथवा तो बना दिया गया है।

ब्राह्मणग्रन्थों में सुप्रसिद्ध 'शतपथब्राह्मण' से ही बृहदारण्यकोपनिषत्' का सङ्कलन हुआ है। 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः०' (बृ० आ० उ०—१अ।१ब्रा), 'नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्०' (बृ० आ० उ० १अ।२ब्रा) इन दो प्रकरणों का संकलन तो शतपथब्राह्मण के १० काण्ड के ६ ठे अध्याय से हुआ है। एवं आगे के सम्पूर्ण प्रकरण का संकलन शतपथ के १४ वें काण्ड से हुआ है। उक्त दो ब्राह्मणों को पृथक् कर हम यह कह सकते हैं कि शतपथ के १४ वें काण्ड के एक भाग का ही नाम 'बृहदारण्यकोपनिषत्' है। इस उपनिषत् में अक्षर-अव्ययादिक अध्यात्म विवर्तों के निरूपण के साथ साथ प्रधानरूप से सर्वविश्वाधारभूता प्रकृति का (जो कि प्रकृति-'अक्षरात्मा' नाम से प्रसिद्ध है) स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। अतएव इसे हम 'अक्षरात्मा-प्रधानपरा-उपनिषत्' मान सकते हैं। इस उपनिषत् में ६ अध्याय हैं, प्रत्येक में क्रमशः ६,६,९,६,१५,५, ब्राह्मण हैं, सम्पूर्ण ६ अध्यायों के ४७ ब्राह्मण हैं। अथ-

१—अव्यक्तद्रष्टा—ऋषिः—वेदतत्त्वस्वरूपः—तत्त्वर्षिः

२—येननाराद्रष्टा—ऋषिः—वेदतत्त्वस्वरूपः—तत्त्वर्षिः

३—प्रत्यक्षद्रष्टा—ऋषिः—वेदतत्त्वद्रष्टा——मानव-ऋषिः (तत्त्वर्षिनाम्ना प्रसिद्धाः

४—मन्त्रद्रष्टा—ऋषिः—वेदतत्त्वकर्ता—मानव-ऋषिः (तत्त्वर्षिनाम्ना प्रसिद्ध

—•—

सनातन आर्षनिष्ठा से अनुप्राणित अपौरुषेय वेद से सम्बन्ध रखने वाले तात्त्विक स्वरूप का संक्षिप्त निदर्शन वेदप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया गया। सचमुच वेद भारतवर्ष का वह अलौकिक मौलिक साहित्य है जिसमें दैहिक (लौकिक, भौतिक) दैविक (पारलौकिक) आध्यात्मिक नानाविध पर्व आदि आदि यथायावत् क्रियाएँ संक्षेप से (संहितात्मक वेद में) एवं विस्तार (ब्राह्मणात्मक वेद में) अपनी रहस्यपूर्ण मौलिक उपपत्तियों के साथ अभिव्यक्त हुई हैं। निश्चयेन राष्ट्र का यह परम दुर्भाग्य है कि पारिभाषिक दृष्टिकोण के विलुप्तप्राय हो जाने से समस्त विज्ञानकोशात्मक यही मौलिक साहित्य आज भारतीय प्रजा के लिए दुरधिगम्य प्रमाणित हो रहा है। वेद का उपनिषद्भाग ही आज विद्वद्वर्ग में प्रधानरूप से प्रचलित है। समादर ही किया जायगा इस आस्था का। किन्तु उपनिषद् को आरण्यक भाग से आरण्यक भाग को ब्राह्मण भाग से, एवं ब्राह्मण भाग को संहिता भाग से पृथक् करके उपनिषद् को एक स्वतन्त्र ग्रन्थ मानते हुए, इसे केवल अद्वैत-निष्ठा परक लगाते हुए 'ज्ञानयोग' पर ही उसका पर्यवसान कर देना मान लेना हम समझते हैं-वेदपुरुष के स्वरूप इस दृष्टिकोण से कदापि सुरक्षित नहीं रह सकता। समस्त वेदशास्त्र एक ही शास्त्र है 'कृत्स्नशास्त्र' है—"वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना" (मनु)। पृथक् पृथक् नहीं है। एक का पूरक दूसरा विभाग है। इस दृष्टिकोण को सम्मुख रख कर मौलिक तत्त्ववाद के आधार पर ही समस्त वेद को एक शास्त्र मानते हुए, पूर्वोत्तरकर्म का समन्वय करते हुए, पारिभाषिक दृष्टिकोण के माध्यम से यदि आज भी हम वेदशास्त्र में प्रवृत्त हों, तो कोई कारण नहीं-

ओं स्वस्ति तत्त्वं विसर्ज—आयय पत्ये त्वराली सुवाचा (यजुर्वेद) इस
वेद वचन के अनुसार स्वयं वेदपुरुष ही अपना तात्त्विक स्वरूप हमारे सम्मुख
स्थित न कर दें।

उदाहरण के लिए उपनिषदों को ही लीजिए। क्या उपनिषद् केवल ब्रह्म-
तत्मा ही प्रतिपादक है ? क्या सृष्टिविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले तात्त्विक
ज्ञानिक मार्गों का स्वरूप-निरूपण उपनिषदों में नहीं हुआ ?, बहुत ही दुरूह
ल है ये जिनके समाधान के लिए तो किसी स्वतन्त्र वक्तव्य को ही
रेय बनाना पड़ेगा। प्रकृत में केवल एक उपनिषत् की संक्षिप्त सी तालिका
वेदस्वरूपप्रेमियों के सम्मुख इस दृष्टि से हम उपस्थित करना चाहते हैं कि,
सके आधार पर वे यह अनुमान लगा सकेंगे कि-'अक्षराक्षर-आत्मतत्त्व के
गधार पर प्रतिष्ठित वही विज्ञानमय पुरुष अपने भिन्न भिन्न वैज्ञानिक
रूपों का कैसी ऋजुभाषा में किस व्यवस्थाकौशल से विश्लेषण कर रहा
है कि केवल ज्ञानवाद के विजृम्भण के कारण सर्वथा ही हमारी प्रज्ञा में
न परायत बन गया है अथवा तो बना दिया गया है।

ब्राह्मणग्रन्थों में सुप्रसिद्ध 'शतपथब्राह्मण' से ही बृहदारण्यकोपनिषत्'
ा सङ्कलन हुआ है। 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः०' (बृ० आ० उ०-
।आ।१ब्रा), 'नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्०' (बृ० आ० उ० १अ।२ब्रा) इन
ो प्रकरणों का संकलन तो शतपथब्राह्मण के १० काण्ड के ६ ठे अध्याय से
हुआ है। एवं आगे के सम्पूर्ण प्रकरण का संकलन शतपथ के १४ वें काण्ड
से हुआ है। उक्त दो ब्राह्मणों को पृथक् कर हम यह कह सकते हैं कि, शतपथ
के १४ वें काण्ड के एक प्रदेश का ही नाम 'बृहदारण्यकोपनिषत्' है। इस
उपनिषत् में अक्षर-क्षरात्मिका अन्यान्य विद्याओं के निरूपण के साथ साथ
प्रधानरूप से सर्वविश्वाधारभूता प्रकृति का (जो कि प्रकृति-'अक्षरात्मा' नाम से
प्रसिद्ध है) स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। अतएव इसे हम 'अक्षरात्मा-वर्णनपरा-
उपनिषत्' मान सकते हैं। इस उपनिषद् में ६ अध्याय हैं, प्रत्येक में क्रमशः
६,६,६,६,१५,५, ब्राह्मण हैं सम्भूय ६ अध्यायों के ४७ ब्राह्मण हैं। अथ-

१–मन्त्रब्राह्मण—श्रुतिः—वेदतत्त्वस्वरूप—तत्त्वर्षिः

२–वेदनाब्राह्मण—श्रुतिः—वेदतत्त्वस्वरूप—तत्त्वर्षिः

३–ग्रन्थब्राह्मण—श्रुतिः—वेदतत्त्वव्याख्या——मानव-श्रुतिः (तत्त्वर्षिनाम्ना प्रसि

४–अनुब्राह्मण—श्रुतिः—वेदतत्त्वकथा—मानव-श्रुतिः (तत्त्वर्षिनाम्ना प्रसि

—— * ——

सनातन धर्मनिष्ठा से अनुप्राणित अपौरुषेय वेद से सम्बन्ध रखने वाले तात्त्विक स्वरूप का संक्षिप्त निदर्शन वेदप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया गया। सचमुच वेद भारतवर्ष का वह अलौकिक मौलिक साहित्य है जिसमें वैज्ञा(लौकिक, भौतिक) दैविक (पारलौकिक) आत्मिक आध्यात्मिक पार्थिव, आदि आदि यच्चयावत् विषयें संक्षेप से (संहितात्मक वेद में) एवं विस्तार से (ब्राह्मणात्मक वेद में) अपनी रहस्यपूर्ण मौलिक उपपत्तियों के साथ अभिव्यक्त हुए हैं । निश्चयेन राष्ट्र का यह परम दुर्भाग्य है कि पारिभाषिक दृष्टिकोण के विलुप्तप्राय हो जाने से समस्त विज्ञानात्मक यही मौलिक साहित्य आज भारतीय प्रजा के लिए दुरधिगम्य प्रमाणित हो रहा है । वेद का उपनिषद्भाग ही आज विद्वद्वर्ग में प्रधानरूप से प्रचलित है । समादर ही किया जायगा इस आस्था का । किन्तु उपनिषद् को आरण्यक भाग से आरण्यक भाग को ब्राह्मण भाग से, एवं ब्राह्मण भाग को संहिता भाग से पृथक् करके उपनिषद् को एक स्वतन्त्र ग्रन्थ मानते हुए, इसे केवल अद्वैत-निष्ठा-परक समझते हुए 'ज्ञानकाण्ड' पर ही उसका पर्यवसान कर देना, मान लेना हम समझते हैं–वेदपुरुष का स्वरूप इस दृष्टिकोण से कदापि सुरक्षित नहीं रह सकता । समग्र वेदशास्त्र एक ही शास्त्र है 'कृत्स्नशास्त्र' है – वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना (मनु) । पृथक् पृथक् नहीं है । एक का एक पृथक् विभाग है । इस दृष्टिकोण को सम्मुख रख कर मौलिक तत्त्ववाद के आधार पर ही समस्त वेद को एक शास्त्र मानते हुए, पूर्वापरसन्दर्भ का समन्वय करते हुए, पारिभाषिक दृष्टिकोण के माध्यम से यदि आज भी हम वेदशास्त्र में प्रवृत्त हों तो कोई कारण नहीं–

'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे–जायेव पत्ये उशती सुवासा' (ऋग्वेद) इस वैदिक वचन के अनुसार स्वयं वेदपुरुष ही अपना वास्तविक स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित न कर दें।

उदाहरण के लिए उपनिषदों को ही लीजिए। क्या उपनिषद् केवल ब्रह्म–आत्मा ही प्रतिपादक हैं ? क्या सृष्टिविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले तात्त्विक वैज्ञानिक भावों का स्वरूप–निरूपण उपनिषदों में नहीं हुआ ? बहुत ही दुरूह प्रश्न हैं ये जिनके समाधान के लिए तो किसी स्वतन्त्र वक्तव्य को ही शरण बनाना पड़ेगा। प्रकृत में केवल एक उपनिषत् की संक्षिप्त सी तालिका वेदस्वरूपप्रेमियों के सम्मुख इस दृष्टि से हम उपस्थित करना चाहते हैं कि, जिसके आधार पर वे यह अनुमान लगा सकेंगे कि–'ब्रह्म–आत्मतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित यही विज्ञानमय पुरुष अपने भिन्न भिन्न वैज्ञानिक तत्त्वों का कैसी ऋजुभाषा में किस व्यवस्थाप्रणाली से' विश्लेषण कर रहा है जो कि केवल शब्दवाद के विजृम्भण के कारण सर्वथा ही हमारी प्रज्ञा से परात्परगत बन गया है अथवा तो बना दिया गया है।

ब्राह्मणग्रन्थों में सुप्रसिद्ध 'शतपथब्राह्मण' से ही बृहदारण्यकोपनिषत्' का सङ्कलन हुआ है। 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः०' (बृ० आ० उ० १अ।१ब्रा।) 'नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्०' (बृ० आ० उ० १अ।२ब्रा।) इन दो प्रकरणों का संकलन तो शतपथब्राह्मण के १० काण्ड के ६ ठे अध्याय से हुआ है। एवं आगे के सम्पूर्ण प्रकरण का संकलन शतपथ के १४ वें काण्ड से हुआ है। उक्त दो प्रकरणों को पृथक् कर हम यह कह सकते हैं कि शतपथ के १४ वें काण्ड के एक सन्दर्भ का ही नाम 'बृहदारण्यकोपनिषद्' है। इस उपनिषद् में अक्षर–लक्षणादिभिन्न अन्यान्य विद्याओं के निरूपण के साथ साथ प्रधानरूप से सर्वविश्वाधारभूता प्रकृति का (जो कि प्रकृति–'अक्षरात्मा' नाम से प्रसिद्ध है) स्वरूप–विश्लेषण हुआ है। अतएव इसे हम 'अक्षरात्मा–वर्णनपरा-उपनिषत्' मान सकते हैं। इस उपनिषत् में ६ अध्याय हैं, प्रत्येक में क्रमशः ६,६,९,६,१५,५ ब्राह्मण हैं, सम्पूर्ण ६ अध्यायों के ४७ ब्राह्मण हैं। अत–

१–असल्लक्षण—ऋषि—वेदतत्त्वस्वरूप—तत्त्वर्षि

२–रोचनालक्षण—ऋषि—वेदतत्त्वस्वरूप—तत्त्वर्षि

३–द्रष्टृलक्षण—ऋषि—वेदतत्त्वद्रष्टा—मानव-ऋषि (तत्त्वर्षिनाम्ना प्रसि

४–वक्तृलक्षण—ऋषि—वेदतत्त्ववक्ता—मानव-ऋषि (तत्त्वर्षिनाम्ना प्रसि

—•—

सनातन आर्षनिष्ठा से अनुप्राणित अपौरुषेय वेद से सम्बन्ध रखने वा तात्त्विक स्वरूप का संक्षिप्त निदर्शन वेदप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया गया सचमुच वेद भारतवर्ष का वह अलौकिक मौलिक साहित्य है जिसमें ऐहि (लौकिक, भौतिक) दैविक (पारलौकिक) आत्मिक नागरिक, पारि आदि आदि यच्चयावत् विद्याएँ संक्षेप से (संहितात्मक वेद में) एवं विस्तार (ब्राह्मणात्मक वेद में) अपनी रहस्यपूर्ण मौलिक उपपत्तियों के साथ अभि-व्यक्त हुई हैं। निश्चयेन राष्ट्र का यह परम दुर्भाग्य है कि पारिभाषिक दृष्टिकोण के विलुप्तप्राय हो जाने से समस्त विद्याकोशात्मक यही मौलिक साहित्य आज भारतीय प्रजा के लिए दुरधिगम्य प्रमाणित हो रहा है। वेद का उपनिषद्भाग ही आज विद्वद्वर्ग में प्रधानरूप से प्रचलित है। समादर ही किया जा रहा एवं व्याख्या का। किन्तु उपनिषद् को आरण्यक भाग से आरण्यक भाग को ब्राह्मण भाग से एवं ब्राह्मण भाग को संहिता भाग से पृथक् करके उपनिषद् को एक स्वतन्त्र ग्रन्थ मानते हुए, इसे केवल अद्वैत-निष्ठा परक लगाते हुए '[illegible]' पर ही उसका पर्यवसान कर देना मान लेना हम समझते हैं–वेदपुरुष का स्वरूप इस दृष्टिकोण से कदापि सुरक्षित नहीं रह सकता। समस्त वेदशास्त्र एक ही शास्त्र है 'कृत्स्नशास्त्र है'–'वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः–सरहस्यो द्विजन्मना' (मनु)। पृथक् पृथक् नहीं है। एक का दूसरा दूसरा विभाग है। इस दृष्टिकोण को सम्मुख रख कर मौलिक तत्त्ववाद के आधार पर ही समस्त वेद को एक शास्त्र मानते हुए, पूर्वापरसन्दर्भ का समन्वय करते हुए, पारिभाषिक दृष्टिकोण के माध्यम से यदि आज भी हम वेदशास्त्र में प्रवृत्त हों तो कोई कारण नहीं–

'यो सर्वे तम्यं बिसर्ज–जायेय पत्ये ज्याती सुवासा' (ऋक्सं) इस वैदिक वचन के अनुसार स्वयं वेदपुरुष ही अपना तात्त्विक स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित न कर दें।

उदाहरण के लिए उपनिषदों को ही लीजिए। क्या उपनिषत् केवल ब्रह्म–वादात्मा ही प्रतिपादक है? क्या सृष्टिविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले तात्त्विक वैज्ञानिक भावों का स्वरूप–निरूपण उपनिषदों में नहीं हुआ?, बहुत ही दुष्कर प्रश्न है जो कि जिनके समाधान के लिए तो किसी स्वतन्त्र वक्तव्य को ही आश्रय बनाना पड़ेगा। प्रकृत में केवल एक उपनिषत् की संक्षिप्त सी तालिका पाठकस्वधर्मप्रेमियों के सम्मुख इस दृष्टि से हम उपस्थित करना चाहते हैं कि जिसके आधार पर वे यह अनुमान लगा सकेंगे कि–'ब्रह्मकाण्ड–आत्मतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित वही विज्ञानमय पुरुष अपने किन किन वैज्ञानिक तत्त्वों का कैसी भाषानुभाषा में किस व्यवसायकौशल से विश्लेषण कर रहा है जो कि केवल ज्ञानवाद के विजृम्भण के कारण सर्वथा ही हमारी प्रज्ञा से परात्परागत बन गया है अथवा तो बना दिया गया है।

माध्यन्दिनी में सुप्रसिद्ध 'शतपथब्राह्मण से ही बृहदारण्यकोपनिषत्' का संकलन हुआ है। 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः०' (बृ आ उ – १आ।१आ) 'नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्' (बृ आ उ १अ।२आ) इन दो प्रकरणों का संकलन तो शतपथब्राह्मण के १० काण्ड के ६ठे अध्याय से हुआ है। एवं आगे के सम्पूर्ण प्रकरण का संकलन शतपथ के १४ वें काण्ड से हुआ है। उक्त दो ब्राह्मणों को पृथक् कर हम यह कह सकते हैं कि शतपथ के १४ वें काण्ड के एक हृदेश का ही नाम 'बृहदारण्यकोपनिषत्' है। इस उपनिषत् में अक्षर–क्षरात्मिका अन्यान्य विद्याओं के निरूपण के साथ साथ प्रधानरूप से सर्वविश्वाधारभूता प्रकृति का (जो कि प्रकृति–'अक्षरात्मा' नाम से प्रसिद्ध है) स्वरूप–विश्लेषण हुआ है। अतएव इसे हम 'अक्षरात्मा–पर्यवसाना–उपनिषत्' मान सकते हैं। इस उपनिषत् में ६ अध्याय हैं, प्रत्येक में क्रमशः ६,६,८,६,१५,५, ब्राह्मण हैं सम्भूय ६ अध्यायों के ४७ ब्राह्मण हैं। अथ–

१–ब्रह्मप्राण—ऋषि—वेदतत्त्वस्वरूप—तत्त्वर्षि

२–पोषणात्मप्राण—ऋषि—वेदतत्त्वस्वरूप—तत्त्वर्षि

३–प्रख्यातप्राण—ऋषि—वेदतत्त्वद्रष्टा—मानव-ऋषि (तत्त्वर्षिनाम्ना प्रसि

४–अनुगतप्राण—ऋषि—वेदतत्त्ववक्ता—मानव-ऋषि (तत्त्वर्षिनाम्ना प्रसि

—— ● ——

सनातन आर्षनिष्ठा से अनुप्राणित अपौरुषेय वेद से सम्बन्ध रखने व तात्त्विक स्वरूप का संक्षिप्त निदर्शन वेदप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया गया उपयुक्त वेद भारतवर्ष का वह अलौकिक मौलिक साहित्य है जिसमें ऐहि (लौकिक मौलिक) दैविक (पारलौकिक), आत्मिक नाक्षत्रिक पार्थि आदि आदि यावत् विचार संक्षेप से (संहितात्मक वेद में) एवं विस्तार (ब्राह्मणात्मक वेद में) अपनी रहस्यपूर्ण मौलिक उपपत्तियों के साथ प्रति व्यक्त हुए हैं। निश्चयेन राष्ट्र का यह परम दुर्भाग्य है कि पारिभाषिक दृष्टि के विलुप्तप्राय हो जाने से समस्त विद्याकोषात्मक वही मौलिक साहित्य आ भारतीय प्रज्ञा के लिए दुरधिगम्य प्रमाणित हो रहा है। वेद का उपनिषद् ही आज विद्वद्वर्ग में प्रधानरूप से प्रचलित है। समादर ही किया जा रहा आस्था का। किन्तु उपनिषद् को आरण्यक भाग से आरण्यक भाग को ब्राह्म भाग से एवं ब्राह्मण भाग को संहिता भाग से पृथक् करके उपनिषद् को प स्वतन्त्र ग्रन्थ मानते हुए, इसे केवल अद्वैत-निष्ठा परक लगाते हुए 'ज्ञानवै पर ही उसका पर्यवसान कर देना' मान लेना हम समझते हैं–वेदपुरुष स्वरूप इस दृष्टिकोण से कदापि सुरक्षित नहीं रह सकता। समस्त वेदशास्त्र प ही शास्त्र है 'कृत्स्नशास्त्र' है –'वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्य–सरहस्यो द्विजन्मन (मनुः)। पृथक् पृथक् नहीं है। एक का पूरक दूसरा विभाग है। इस दृष्टिको को सम्मुख रख कर मौलिक तत्त्वसार के आधार पर ही समस्त वेद को ए शास्त्र मानते हुए, पूर्वापरसन्दर्भ का समन्वय करते हुए, पारिभाषिक दृष्टिकोण माध्यम से यदि आज भी हम वेदशास्त्र में प्रवृत्त हों तो कोई कारण नहीं

–चक्षुरुद्गानविज्ञान
–श्रोत्रमुद्गान ,,
–मनउद्गान
–आत्मप्रमाक्षेप ,
–अङ्गिरामाणस्वरूपविज्ञान
–मृत्युमतिक्रान्ता प्राणदेवता–विज्ञान
–आध्यात्मिकप्राणस्वरूपविज्ञान
–आध्यात्मिकाधिदैविकप्राण के
 उपजीव्यभाव का स्वरूपपरिचय
–सर्वाधिभूतिविज्ञान
–बृहस्पतिप्राणस्वरूपविज्ञान
–ब्रह्मणस्पतिप्राणस्वरूपविज्ञान
–सामतत्त्वस्वरूपविज्ञान
८–उद्गीथप्राणस्वरूपविज्ञान
९–स्वरस्वरूपविज्ञान
 –आर्त्विज्यसम्पत्तिविज्ञान
१–साम्न सुवर्णभावविज्ञान
२–पवमानाभ्यारोहणविज्ञान
३–स्तोत्रस्वरूपविज्ञान
तीसरी अक्षरास्मविज्ञानोपनिषत् में—
 १–पुरुषविध–आत्मस्वरूपविज्ञान
 २–'अहं' स्वरूपाविर्भावविज्ञान
 ३–आत्मा के उभयस्वरूप का परिचय
 ४–सर्वात्मनामपुरुषविज्ञान
 ५–अर्द्धवृगलपुरुषविज्ञान
 ६–दाम्पत्यभावविज्ञान
 ७–आत्मतिरोभावविज्ञान
 ८–सृष्टिस्वरूपविकासविज्ञान

१९-पुरुषप्रजापतेः कलाविभूतिविज्ञानम्
२०-उभयोस्तादात्म्यविज्ञानम्
२१-लोकत्रयस्वरूपविज्ञानम्
२२-लोकत्रयविभूतिप्राप्त्युपायविज्ञानम्
२३-आत्मन' सम्पत्ति' विभूतिविज्ञानम्
२४-लोकद्वयोरैकस्वसम्पत्तिविज्ञानम्
२५-पुत्रविभूतिविज्ञानम्
२६-दैवी-वाग्विभूतिविज्ञानम्
२७-आध्यात्मिकसंस्थायामाधिदैविक-
विभूतिभावभोगोपभोगाः तत्स्वरूपविज्ञानम
२८-सत्यविज्ञानमीमांसा
२९-आध्यात्मिकप्राणस्पर्द्धाविज्ञानम्
१ -आधिदैविकप्राणस्पर्द्धाविज्ञानम्
३१-एकव्रतादेशविज्ञानम्

—❀—

पाँचवीं उक्थ ब्रह्म साम-सप्ताक्षरात्मविज्ञानोपनिषत् में—
१-नाम्नां-उक्थं ब्रह्म साम-लक्षण-आत्मा (वाङ्मयः)। तत्स्वरूपवि
२-कर्मणां-उक्थं, ब्रह्म-साम लक्षण आत्मा (प्राणमयः)। तत्स्वरूपवि
३-रूपाणां-उक्थं ब्रह्म साम-लक्षण आत्मा (मनोमयः) तत्स्वरूपवि
४-सप्ताक्षरात्मनः प्रतिर्ध्वरावस्था तत्स्वरूपविज्ञानम्
५-सप्ताक्षरात्मनः—सत्यावस्था—तत्स्वरूपविज्ञानम्
६-अमृतमृत्युमयोऽक्षरात्मा—तत्स्वरूपविज्ञानम्
७-अमृतः सत्यसमर्पणम्—तत्स्वरूपविज्ञानम्

दूसरे अध्याय में षडुपनिषदात्मक ६ ब्राह्मण हैं, जिनके क्रम विषयमात्र यहाँ गिना दिए जाते हैं।

–अव्ययात्मनः-आधिदैविकाध्यात्मिकयोरौपासनिकयोर्विवर्त्तविज्ञानोपनिषत् नाम की प्रथमा उपनिषत् में निम्नलिखित विज्ञान समाविष्ट हैं—

१–आदित्यपुरुषोपासनविज्ञानम्
२–चन्द्रपुरुषोपासनविज्ञानम्
३–विद्युत्पुरुषोपासनविज्ञानम्
४–आकाशपुरुषोपासनविज्ञानम्
५–वायुपुरुषोपासनविज्ञानम्
६–अग्निपुरुषोपासनविज्ञानम्
७–अप्-पुरुषोपासनविज्ञानम्
८–आदर्शपुरुषोपासनविज्ञानम्
९–प्राणविधपुरुषोपासनविज्ञानम्
१०–दिग्विधपुरुषोपासनविज्ञानम्
११–छायामयपुरुषोपासनविज्ञानम्
१२–शारीरपुरुषोपासनविज्ञानम्
१३–अक्षरपुरुषे सर्वेषामुक्ताक्षरपुरुषविवर्त्तानां विरामः
१४–अक्षरपुरुष–अयं–आत्मा, उपासीत–इत्यादेशः

—※—

२–मुख्यप्राणविज्ञानोपनिषत् नाम की दूसरी उपनिषत् में निम्नलिखित विज्ञान समाविष्ट हैं—

१–आधान-प्रत्याधान-स्थूण-दाम-रज्जुरूपो मध्यमः प्राणः
२–स्थूणादामरूपविज्ञानम्
३–शिरोनिवेश्यप्राणस्वरूपविज्ञानम्
४–उत्क्रमणात्मकप्राणाध्यायस्वरूपविज्ञानम्
५–अर्वाग्बिलस्वरूपविज्ञानम्
६–आध्यात्मिकप्राणविवर्त्तं माया

—※—

३–अक्षरात्मनः प्रातिस्विकरूपेणामूर्तत्व-क्षररूपेण च मूर्तत्वविज्ञानोपनिषत्–नाम की तीसरी उपनिषत् में–निम्नलिखित विज्ञान समाविष्ट हैं

१–मूर्तामूर्तविभूतिविज्ञानम्
२–मर्त्यामृतविभूतिविज्ञानम्
३–गति-स्थितिविभूतिविज्ञानम्
४–सत्–असत्–विभूतिविज्ञानम्
५–सत्पुरुषविभूतिविज्ञानम्
६–आधिदैविकपुरुषविभूतिविज्ञानम्
७–आध्यात्मिकपुरुषविभूतिविज्ञानम्
८–सत्यस्य सर्वं महाविभूतिविज्ञानम्

४–अक्षरात्मनो भूमोदर्कविज्ञानोपनिषत् नाम की चौथी उपनिषत् में–निम्नलिखित विज्ञान समाविष्ट हैं—

१–अक्षरात्मस्वरूपविज्ञाय स्वासाक्षी
२ आत्मकामस्याप्तिविज्ञानम्
३–अक्षरात्मज्ञानस्य सर्वज्ञत्वप्रवर्तकत्वम्
४–सर्वात्मपरमभावनादेश
५–अक्षरात्मनिःश्वसितवेदविज्ञानम्
६–वाग्विवर्तविज्ञानम्
७–आत्म-आत्मस्वरूपैरैतयोस्तम्भनविज्ञानम्
८–आत्मभूमस्वरूपविज्ञानम्

३—अक्षरात्मनः सात्विकरूपेणामूर्तत्व-क्षररूपेण च मूर्तत्वविज्ञानोपनिषत्-नाम की तीसरी उपनिषत् में निम्नलिखित विज्ञान समाविष्ट हैं

१—मूर्तामूर्तविमुक्तिविज्ञानम्
२—मर्त्यामृतविमुक्तिविज्ञानम्
३—गति-स्थितिविमुक्तिविज्ञानम्
४—सर्व-तद्-विमुक्तिविज्ञानम्
५—त्रयपुरुषविमुक्तिविज्ञानम्
६—आधिदैविकपुरुषविमुक्तिविज्ञानम्
७—आध्यात्मिकपुरुषविमुक्तिविज्ञानम्
८—तत्परस्य तस्य ब्रह्मविमुक्तिविज्ञानम्

—❀—

४—अक्षरात्मनो भूमोदकविज्ञानोपनिषत् नाम की चौथी उपनिषद् में—निम्नलिखित विज्ञान समाविष्ट हैं—

१—अक्षरात्मस्वरूपविज्ञाना स्वामविधौ
२ आत्मब्रह्मव्याप्तिविज्ञानम्
३—अक्षरपरमज्ञानस्य सर्वज्ञतामपर्वकरणम्
४—सर्वभावपरममवनारोपः
५—अक्षरब्रह्मनिःश्वसितवेदविज्ञानम्
६—वामृविवर्तविज्ञानम्
७—आत्म-आत्मनपरोऽन्योऽन्यस्वरूपविज्ञानम्
८—आत्मभूमस्वरूपविज्ञानम्

—❀—

३–अक्षरात्मानुगत 'मधुप्राण' व्याप्तिविज्ञानोपनिषत् (मधुविद्यो-पनिषत्) नाम की पाँचवीं उपनिषत् में–निम्नलिखित विज्ञान समाविष्ट हैं–

१–पृथिव्यनुगतमधुप्राणविज्ञानम्
२–अप्स्वनुगत "
३–अग्न्यनुगत "
४–वाय्वनुगत "
५–आदित्यानुगत "
६–दिगनुगत "
७–चन्द्रानुगत "
८–विद्युदनुगत "
९–स्तनयित्न्वनुगत "
१०–आकाशानुगत "
११–धर्मानुगत "
१२–सत्यानुगत "
१३–मानुषात्मा (भूतात्मा)नुगत "
१४–अक्षरात्मानुगतमधुप्राणविज्ञानम्
१५–अक्षरात्मानुगतमधुप्राणस्य सर्वेषां मधुप्राणानामात्मत्वम्–तत्स्वरूपविज्ञानम्
१६–मधुविद्याविस्मरणम्, तत्क्रमपरम्परा च

६–आचार्यपरम्पराक्रमलक्षणा वंशोपनिषद्

इति–२ अध्याये ६ ब्राह्मणम्

इति ६ उपनिषदात्मकः, ६ ब्राह्मणात्मकः,

द्वितीयोऽध्याय

२

१–अतिमुक्ति-सम्पद्विज्ञानोपनिषत्–नामक उपनिषत् में ये विज्ञान सन्निविष्ट हैं—

❀–अतिमुक्तिविज्ञानोपनिषत्

(१)—१–आत्मस्थानखण्डम्
(२)—२–आत्मविज्ञाता
(३)—३–मृत्योरग्नेरतिमुक्तिविज्ञानम्
(४)—४–अहोरात्रयोराप्तेरतिमुक्तिविज्ञानम्
(५)—५–पक्षयोराप्तेरतिमुक्तिविज्ञानम्
(६)—६–चन्द्रमसोराप्तेरतिमुक्तिविज्ञानम्

❀–सम्पद्विज्ञानोपनिषत्

(७) १–होत्रकर्मसम्पद्विज्ञानम्
(८) २–आध्वर्यवकर्मसम्पद्विज्ञानम्
(९) ३–औद्गात्रकर्मसम्पद्विज्ञानम्
(१०) ४–ब्रह्मकर्मसम्पद्विज्ञानम्

सैषा सम्पद्विज्ञानोपनिषत्

———❀———

२–ग्रहातिग्रह–आप्तिविज्ञानोपनिषत् में ये विज्ञान सन्निविष्ट हैं·

❀–ग्रहातिग्रहविज्ञानोपनिषत्

(१) १–आरम्भरव–आर्तभागविज्ञाता
(२) २ प्राणग्रहातिग्रहविज्ञानम्
(३) ३–वाग्ग्रहातिग्रहविज्ञानम्
(४) ४–जिह्वाग्रहातिग्रहविज्ञानम्
(५) ५–चक्षुर्ग्रहातिग्रहविज्ञानम्
(६) ६–श्रोत्रग्रहातिग्रहविज्ञानम्
(७) ७–मनोग्रहातिग्रहविज्ञानम्

(८) ८–हस्तमहाग्निमहविज्ञानम्
(९) ९–स्वर्गमहाग्निमहविज्ञानम्

❀–सैषा महाग्निमहविज्ञानोपनिषत्

———

❀–व्याप्तिविज्ञानोपनिषत्

(१०) १–मृत्यु-रसविज्ञानम्
(११) २–प्राणोऽक्षन्त्यविज्ञानम्
(१२) ३–व्याप्तिविवर्तविज्ञानम्
(१३) ४–प्रज्ञाप्रस्तरस्वरूपविज्ञानम्

❀–सैषा व्याप्तिविज्ञानोपनिषत्

———

३–व्यष्टिसमष्टिविज्ञानोपनिषत् में ये विज्ञान सन्निविष्ट हैं—

१–मुमुर्ष्वायमनिविज्ञानम्
२–अश्वमेधमखमीमांसा
३–इन्द्र-पुरुषमीमांसा
४–आत्मनः प्रतिसञ्चरणम्
५–मृत्युविवर्तः

———

४–सर्वभूतात्मविज्ञानोपनिषत् में ये विज्ञान सन्निविष्ट हैं—

१–उपस्वरवाग्भक्तिविज्ञानम्
२–देवसत्यप्राणस्वरूपविज्ञानम्
३–ब्रह्मस्वरूपस्वरूपविज्ञानम्
४–इन्द्रियवृत्तस्वरूपविज्ञानम्

———

५–एषणाविज्ञानोपनिषत् में ये विज्ञान सन्निविष्ट हैं—

१–[illegible]जिज्ञासा
२–पुत्रैषणास्वरूपविज्ञानम्
४–लोकैषणास्वरूपविज्ञानम्
५–आर्तनाद मीमांसा

—•—

६–विभूतिपरम्पराविज्ञानोपनिषत् में ये विज्ञान सन्निविष्ट हैं–

१–वाचक्नवी–जिज्ञासा
२–आपः पृथिव्या विभूतिः
३–वायुरपां विभूतिः
४–अन्तरिक्षलोकः—वायोर्विभूतिः—स्वरूपविज्ञानम्
५–गन्धर्वलोकः अन्तरिक्षस्य विभूतिः ,,
६–आदित्यलोकः–गन्धर्वलोकस्य विभूतिः ,,
७–चन्द्रलोकः –आदित्यलोकस्य विभूतिः ,
८–नक्षत्रलोकः–चन्द्रलोकस्य विभूतिः ,,
९–देवलोकः–नक्षत्रलोकस्य विभूतिः ,,
१ इन्द्रलोकः–देवलोकस्य विभूतिः
११–प्रजापतिलोकः–इन्द्रलोकस्य विभूतिः ,,
१२–ब्रह्मलोकः प्रजापतिलोकस्य विभूतिः ,
१३–अक्षरलोकः–सर्वलोकविभूतिः
१४–स एषोऽक्षरलोकोऽनतिप्रश्न्यः ,,

७–अक्षरात्मकर्मविज्ञानोपनिषत् (अक्षरात्मैव ब्रह्मात्मा, अन्तर्यामी) नामकी उपनिषत् में ये विज्ञान सन्निविष्ट हैं।

१–उद्दालकमारुणिजिज्ञासा
२–सूत्रवेदान्तर्यामम्

५-११ देवम इमं न

६ १—देवमहिना।

७-३—देवमहिमानं

८-३।। देवमहिमानो

९-१ देवमहिमा

१० ——प्राणापानस्य देवतात्वविज्ञानम्

११——अवरपुरुषः परपर्या सर्वेषाम्

१२——दिग्देवताविज्ञानम्

१३——आधिदैविकदेवताविज्ञानम्

१४——आध्यात्मिकदेवताविज्ञानम

१५——औपनिषत्पुरुषविज्ञानम्

१६——अध्यात्मप्रश्नावली–स्वरूपपरिचय

चतुर्थ अध्याय में ६ उपनिषद् हैं, १ ब्राह्मण है। लो लीजिए! इन पावन विषयों पर दृष्टिपात का अनुग्रह कर लीजिए!

१—अपरब्रह्मोपासनविज्ञानोपनिषद् (परब्रह्मोपासनोपनिषद्)

१—वाग्ब्रह्मोपासनविज्ञानम्

२—प्राणब्रह्मोपासनविज्ञानम्

३—चक्षुर्ब्रह्मोपासनविज्ञानम्

४—श्रोत्रब्रह्मोपासनविज्ञानम्

५—मनोब्रह्मोपासनविज्ञानम्

६—हृदयब्रह्मोपासनविज्ञानम्

७—ब्रह्मणः सर्वेषां प्रतिष्ठा

४—१

४-आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्

४-४

५-आत्मविज्ञानादेशोपनिषत्

४-५

६-भाषाव्याख्यानसमलङ्कृता ईशोपनिषद्

७—६

—— ॐ ——

५-पञ्चमोऽध्यायः (१५ उपनिषदात्मकः, १५ ब्राह्मणात्मकः)

५

६-षष्ठोऽध्यायः—(५ उपनिषदात्मकः ५-ब्राह्मणात्मकः)

मस्तीभ ब्राह्मण का वेद के अतिरिक्त और कोई तप नहीं है, दूसरा अनुष्ठान है।

३—आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥
—मनु २।१६७

यह द्विजाति वह ब्राह्मण आलोमम्य –आ नखाग्रेभ्य: मानो प्रचण्डतम तपश्चर्या ही कर रहा है जो कि सतत वेदस्वाध्याय में नियत है। जो वेद-स्वाध्याय से विमुख हो जाता है, उस ब्राह्मण के प्रति प्रचण्ड आक्रोश अभिव्यक्त करते हुए राजर्षि कह रहे हैं—

४—योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥
—मनु २।१६८

अर्थात् जो द्विजाति वेदस्वाध्याय की उपेक्षा कर अन्य कल्पित शास्त्रों में अपने जीवन को समर्पित कर देता है वह जीता हुआ न केवल स्वयं ही, अपितु

उम्' (मनुः २।१७५ से २१२ पर्यन्त) इत्यादि रूप से विहित विविध प्रकार नियमोपनियमों का अनुगमन करते हुए ही द्विजाति को रहस्यज्ञानपूर्वक सम्पूर्ण शास्त्र का अपने आचार्य से परिज्ञान प्राप्त करना चाहिए (१) ॥ नियम-शक्ति सम्पन्न तपः-कर्म में संलग्न द्विजाति को अनन्य निष्ठा से तथा सर्वदा मस्तक बने रहते हुए वेदशास्त्र का ही अभ्यास करते रहना चाहिए। क्योंकि एकमात्र वेदाभ्यास ही द्विजाति-ब्राह्मण का अनन्य तप माना गया है (२) ॥

B —वह द्विजाति-ब्राह्मण आलोमम्य-आनखाग्रेभ्यः(अपने सर्वाङ्गशरीर से मस्तक शिखापर्यन्त) प्रचण्ड-उग्र तप ही कर रहा है जो पग्व–मालादि–धारण करता हुआ भी (अर्थात् गृहस्थाश्रमधर्म्मों का सञ्चालन करता हुआ भी) प्रतिदिन (अपने गृहस्थ–पारिवारिक कर्त्तव्यों में से समय निकाल कर) प्रतिदिन यथाशक्ति वेद का स्वाध्याय करता रहता है (१) ॥

४–अमित[illegible]विज्ञानोपनिषत् (१–४)
५–आचार्यपरम्परा[illegible]उपनिषत् (१–५)

इति–५ उपनिषदात्मकः, ५ ब्राह्मणात्मकः
षष्ठोऽध्यायः
६

समाप्ता चेयं बृहदारण्यकोपनिषत्

यह है एक 'बृहदारण्यकोपनिषत्' के केवल विषयों की तालिका। इसमें क्या रहस्य होगा—वेदशास्त्र में ?, यह तो तभी विदित हो सकता है जब कि स्वयं वेदशास्त्र की शरण में जाने का प्रयास करें। क्या नहीं है वेद में। सम्भवतः इसी आधार पर भगवान् मनु को यह कहना पड़ा कि—

चातुर्वर्ण्य–त्रयोलोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूत–भव्यं–भवश्चैव सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥
—मनु

और–सम्भवतः इसी दृष्टि को लक्ष्य में रख कर राजर्षि मनु ने वेद के सम्बन्ध में अपने ये महान् उद्गार व्यक्त किए होंगे कि—

A. १–'तपो' विशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधि–चोदितैः ।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ।
२–वेदमेव सदाऽभ्यसेत्–तपस्तप्स्यन्–द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥
—मनु २।१६५ १६६ ।

A —वेदाध्ययन के लिए निर्दिष्ट–'आचार्यपुत्रः[illegible] पठनीयाः [illegible] (मनु २।७ १४८ [illegible]) इत्यादि ने [illegible] के लिए निर्दिष्ट [illegible] के तथा–'[illegible] निवसन ब्रह्मचारी गुरौ

माध्यमिक ब्राह्मण का वेद के अतिरिक्त और कोई तप नहीं है यह उत्तम अनुष्ठान है।

३-आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।
य स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥

—मनु २।१६७

वह द्विजाति वह ब्राह्मण आलोमभ्य:-आ नखाग्रेभ्यः मानो प्रचण्डतम तपश्चर्या ही कर रहा है जो कि सतत वेदस्वाध्याय में निरत है। जो वेद-पाठ से विमुख हो जाता है, उस ब्राह्मण के प्रति प्रचण्ड आक्रोश अभिव्यक्त करते हुए धर्मर्षि कह रहे हैं—

४-योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय ॥

—मनु २।१६८

अर्थात् जो द्विजाति वेदस्वाध्याय की उपेक्षा कर अन्य कल्पित शास्त्रों में स्व जीवन को समर्पित कर देता है वह जीता हुआ न केवल स्वयं ही, अपितु

ह्म् (मनु २।१७५ से २१२ पर्यन्त) इत्यादि क्रम से विहित विविध प्रकार नियमोपनियमों का अनुगमन करते हुए ही द्विजाति को रहस्यज्ञानपूर्वक सम्पूर्ण शास्त्र का अपने आचार्य से परिज्ञान प्राप्त करना चाहिए (१) ॥ नियम-पादि लक्षण तपः-धर्म में संलग्न द्विजाति को अनन्य निष्ठा से सदा सर्वदा साधक बने रहते हुए वेदशास्त्र का ही अभ्यास करते रहना चाहिए। क्योंकि प्रमाण वेदाभ्यास ही द्विजाति-ब्राह्मण का अनन्य तप माना गया है (२) ॥

B —वह द्विजाति-ब्राह्मण आलोमभ्य:-आनखाग्रेभ्यः(अपने सर्वाङ्गशरीर से नख शिखपर्यन्त) प्रचण्ड-उग्र तप ही कर रहा है जो गन्ध-मालादि-धारण करता हुआ भी (अर्थात् गृहस्थाश्रमधर्मों का पालन करता हुआ भी) प्रतिदिन (अपने गृहस्थ-पारिवारिक कार्यों में से समय निकाल कर) प्रतिदिन यथाशक्ति वेद का स्वाध्याय करता रहता है (१) ॥

८–या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥

९–उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानि चित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥

१०–चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं–भवद्–भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥

—मनु १२।९५,९६ ९६ ९७।

पु सोकीम प्राविस्य से अनुप्राणित सामवत्व से ततत्वत्रयीप्रतिपादक शब्दात्मक
ग्म ही सनातन चक्षु है मार्गदर्शक शास्त्र है। मानवीय प्रजा के लिए
स्य, एवं अप्रमेय है यह वेदशास्त्र (अपने शब्दार्थनिबन्ध औत्पत्तिक सम्बन्ध
बन्ध रखने वाली नित्यकूटस्थता एवं अपौरुषेयता के कारण)। यही वो
ग सनातनत्व है। (७) ॥

जो भी स्मृतियाँ वेदशास्त्रसिद्ध सिद्धान्तों से विरुद्ध हैं अन्य भी जो भी चार्वाक-
जैन-बौद्ध-चणिक-शून्यवादी मतवादों से सम्बन्ध रखनें वाली कुदृष्टियाँ हैं वे
मरणीय आत्मनिष्ठा के लिए इसलिए सर्वथा निरर्थक ही हैं कि, इन वेदविरुद्ध
दों से सम्बन्ध रखनें वाली कुदृष्टियों का काल्पनिक मतवाद पर ही
म है। (८) ॥

यही कारण है कि, सनातन वेदशास्त्रसिद्ध ज्ञानविज्ञानात्मक तत्त्वों की उपेक्षा
अपनी कल्पनामात्र से जो भी कोई नवीन मतवाद समय समय पर उत्पन्न होते
हैं एवं साथ ही विनष्ट भी होते रहते हैं वे सब मतवाद सर्वथा अर्वाचीन
हुए, वेदतत्त्व से असंस्पृष्ट रहते हुए, अतएव केवल काल्पनिक भावाश्रित
हुए सर्वथा ही मिथ्या हैं (९)।

अग्नि–इन्द्र–विश्वेदेव–पूषा–भाग्यसुमय, अतएव पदार्थ मात्र में व्याप्त
–क्षत्र–विट्–शौद्र–रूप चातुर्वर्ण्य, चारों आश्रम, अतीत–वर्तमान–भविष्यत्–

अपने वेदशासित ब्रह्मकोटि में समाविष्ट होजाता है। वेदस्वाध्याय ही इस जीवन का साफल्य है।

C ४—एतद्धि जन्म साफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति, नान्यथा॥
—मनुः १२।९३।

मानवकर्म से सम्बन्ध रखने वाला पार्थिवलोक, पितर—कर्म से सम्बन्ध रखने वाला चन्द्रलोक, एवं देवकर्म से सम्बन्ध रखने वाला सूर्यलोक, इसप्रकार चान्द्र अन्तरिक्ष और सूर्यात्मक त्रैलोक्य का तत्त्व जिस वेदशास्त्र में प्रतिष्ठित है, वह वेदशास्त्र पार्थिव मानव—मार्गानुगत चान्द्र पितर—मार्गानुगत और देवमार्गानुगत इन तीनों लोकों का साक्षात् सनातन चक्षु है (अग्निसम्बन्धी पार्थिव भूतत्त्व से, वायुसम्बन्धी आन्तरिक्ष्य प्राण—तत्त्व से, एवं सूर्यसम्बन्धी दिव्य तेज और प्रकाशतत्त्व से)।

०—७—पितृ—देव—मनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयञ्च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥

C—आत्मस्वरूपबोधानुगत वेदस्वाध्याय में सफलता प्राप्त कर लेना ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-नामक द्विजाति के लिए, तथापि विशेषतः ब्राह्मण के लिए जन्मसाफल्य है। अर्थात् वेदतत्त्वनिष्ठा के माध्यम से आत्मस्वरूपबोध कर लेना ही ब्राह्मण के मानवशरीर के जन्म की सफलता है। इस वेदतत्त्व को प्राप्त करके ही ब्राह्मण अपने भौतिक जीवन से कृतकृत्य बन सकता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण के लिए जीवनसाफल्य का और कोई दूसरा उपाय नहीं है। (४)।

०—अन्तरिक्षलोकात्मक चान्द्र पितरों का दिव्यलोकात्मक सौर प्राण देवताओं का तथा भूलोकात्मक पार्थिव मानवों का (तीनों प्रजावर्गों का) अग्नि से अनुप्राणित भूतत्त्व से, आन्तरिक्ष्य वायु से अनुप्राणित वायु

१६–एकोऽपि वेदविद्–धर्म्मं यं व्यवस्येद्–द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेय परो धर्म्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥

वेद का तात्त्विक–रहस्यवेत्ता एक भी द्विजाति ब्राह्मण अपनी वेदसम्मत ज्ञानविज्ञाननिष्ठा के माध्यम से जिसे 'धर्म्म' रूप से 'कर्त्तव्यनिष्ठा' रूप से व्यवस्थित

ती है । वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, अपने व्यावहारिक रूपों से लोकनीति–समाजनीति–नागरिकनीति–राष्ट्रनीति–अन्तर्राष्ट्रीयनीति–आदि व्यवहारजगत् से इस से हमने वेदशास्त्र को पृथक् मान बैठने की महाभयानक भूल करली है, उसी से भारतराष्ट्र का सर्वात्मना पतन आरम्भ हो गया है ।

कुछ समय पूर्व बिहारप्रान्त के राज्यपाल माननीय श्रीरङ्गनाथदिवाकर महाभाग ने मानवाश्रम पधारने का अनुग्रह किया था । आप से लगभग २–३ घन्टे वेदशास्त्र–प्रसङ्ग में विचारादानप्रदान का अवसर मिला । हमें यह जान कर दुःख हुआ कि, वेदशास्त्र के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी आपने वार्त्ता-प्रसङ्ग में वेदशास्त्र को, एवं तन्मूलक इतर शास्त्रों को केवल आत्मचिन्तनपरक ही बतलाते हुए इस सम्बन्ध में अपने ये उद्गार व्यक्त किए कि– "वेदतत्त्व–चिन्तन में किसी भूत–भौतिक साधन की कोई अपेक्षा नहीं है । यह तो एकान्त में–सब–प्रवृत्तियों से दूर रह कर केवल पारलौकिक शान्ति से सम्बन्ध रखने वाला आत्मचिन्तन का ही क्षेत्र है" इत्यादि ।

राज्यपाल महाभाग के उक्त दृष्टिकोण का इसलिए हमें समादर ही कर लेना चाहिए कि विगत २–३ हजार वर्षों से सचमुच वेदादि–शास्त्र केवल 'आत्मचिन्तन मात्र के महान् व्यामोहन के ही पथ का पथिक प्रमाणित होता आ रहा है । निश्चयेन इसी भ्रान्ति से भारतराष्ट्र को उक्त अवधि में परतन्त्रता के बात्या–चक्र से आबद्ध बना रहना पड़ा है । ज्ञानानुगता वैज्ञानिकी परिभाषाओं के विलुप्त हो जाने से ही सर्वसंसाधक–सर्वप्रसोतविद–ऐहिक–आमुष्मिक–फल-संसाधक भी वेदशास्त्र सचमुच भारतीय वेदभक्त महानुभावों की दृष्टि में आज प्रतिमापूजनवत् एक अर्चनीय प्रतिमा ही प्रमाणित हो रहा है । इस से अधिक —— वेद की ज्ञान–विज्ञानात्मिका प्रज्ञा का और क्या पतन होगा ! ।

क्षमता रखता है। वही कुशलतापूर्वक दण्डनीति का सञ्चालन कर सकता है। निम्नवृत्ता-व्यवसायकृत् प्रशासन-व्यवस्थाओं का कौशलपूर्वक वेदशास्त्रविद् ही सञ्चालन कर सकता है (१३)। प्रबलवेग से प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार गीले वृक्षों तक को जला डालने की क्षमता रखता है एवमेव वेदज्ञानाग्नि से समन्वित द्विजाति अपने इस ज्ञानाग्नि से सञ्चित कर्मदोषों को भी तत्क्षण में भस्मसात् कर देता है (१४)। किन्तु इस सम्बन्ध में द्विजाति को यह नहीं भुला देना चाहिए कि अज्ञान, तथा प्रमादवश होने वाले कर्मदोष ही इस वेदाग्नि से नष्ट होते हैं। जान बूझ कर जो दोष किए जाते हैं, उनका फल तो वेदज्ञ को भी भोगना ही पड़ता है। अतएव वेदज्ञ का आश्रय लेकर अतिमान में आकर कभी वेदज्ञ को असत्-कर्मों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए (१५)। जो वेदतत्त्व ज्ञाननिष्ठा प्राप्त कर लेता है वह यथेच्छ किसी भी आश्रम में रहता हुआ इसी जन्म में ब्रह्मनिष्ठ (विदेहमुक्त) बन जाता है (१६)। (शास्त्रसिद्ध कर्मों का आचरणात्मक) 'तप' एवं कर्माधारभूता तत्त्वज्ञानात्मिका 'विद्या', ये दो ही तो तत्त्व द्विजाति के लिए (अभ्युदयसाधनपूर्वक) निःश्रेयससाधक उत्कृष्ट साधन माने गए हैं। कर्मात्मक तपोबल से (आचारनिष्ठा से) जहाँ यह द्विजाति पाप-संस्कारों का परिमार्जन करता हुआ बलात्मक मृत्युपाश को तोड़ देता है, वहाँ ज्ञानात्मिका विद्या से (तत्त्वनिष्ठा से) रसनिबन्धन अमृतभाव को प्राप्त कर लेता है (१७)। वेदमहर्षियों के द्वारा दृढ़-व्यवस्थित आर्ष विद्यात्मक वेदशास्त्र, तन्मूलक धर्मशास्त्र एवं वेदशास्त्र से अनुगत आस्था-श्रद्धा-समन्वित तर्कशास्त्र इन तीनों से समाश्रित जो धर्म (कर्त्तव्य) व्यवस्थित होता है वही वास्तविक धर्म है। (१८)।

इसप्रकार उक्त मनुवचन स्पष्ट ही भारतीय वेदादि शास्त्रों की सर्वाङ्गीना सर्वविधा-उपयोगिता-व्यावहारिकता का विस्पष्ट शब्दों में उद्घोष कर रहे हैं। अतएव जो महानुभाव विगत कुछ एक शताब्दियों से ऐसा मान बैठे हैं कि,- "वेदादि शास्त्र तो केवल आत्मचिन्तन-शास्त्र हैं। इन का लोक-व्यवहारों से कोई सम्बन्ध नहीं है" उनकी इस मान्यता में अणुमात्र भी तथ्य

१६–एकोऽपि वेदविद्–धर्म्मं यं व्यवस्येद्–द्विजोत्तम ।
स विज्ञेयः परो धर्म्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥

वेद का तात्त्विक–रहस्यवेत्ता एक भी द्विजाति ब्राह्मण अपनी वेदसम्मता ज्ञानविज्ञाननिष्ठा के माध्यम से जिसे 'धर्म्म' रूप से 'कर्त्तव्यनिष्ठा' रूप से व्यवस्थित

नहीं है। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, अपने व्यावहारिक तन्त्रों से लोकनीति–समाजनीति–नागरिकनीति–राष्ट्रनीति–अन्तर्राष्ट्रीयनीति–आदि व्यवहारजगत् से जब से हमनें वेदशास्त्र को पृथक् मान बैठने की महाभयानक भूल करली है, तभी से भारतराष्ट्र का सर्वाङ्गीण पतन आरम्भ हो गया है।

कुछ समय पूर्व बिहारप्रान्त के राज्यपाल माननीय श्रीरङ्गनाथदिवाकर महाभाग ने मानवाश्रम पधारने का अनुग्रह किया था। आप से लगभग २–३ घण्टे वेदशास्त्र–प्रसङ्ग में विचारादानप्रदान का अवसर मिला। हमें यह जान कर दुःख हुआ कि वेदशास्त्र के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी आपने यथार्थ-प्रसङ्ग में वेदशास्त्र को एवं तन्मूलक इतर शास्त्रों को केवल आत्मचिन्तनपरक ही बतलाते हुए इस सम्बन्ध में अपनें ये उद्गार व्यक्त किए कि–"वेदतत्त्व–चिन्तन में किसी भूत–भौतिक साधन की कोई अपेक्षा नहीं है। यह तो एकान्त में–सब–प्रवृत्तियों से दूर रह कर केवल पारलौकिक शान्ति से सम्बन्ध रखने वाले आत्मचिन्तन का ही क्षेत्र है" इत्यादि।

राज्यपाल महाभाग के उक्त दृष्टिकोण का इसलिए हमें समादर ही कर लेना चाहिए कि, विगत २–३ हजार वर्षों से सचमुच वेदादि–शास्त्र केवल 'आत्मचिन्तन' मात्र के महान् व्यामोहन के ही पथ का पथिक प्रमाणित होता आ रहा है। निश्चयेन इसी भ्रान्ति से भारतराष्ट्र को उक्त अवधि में परतन्त्रता के दारुण–पाश से आबद्ध बना रहना पड़ा है। ज्ञानानुगता वैज्ञानिकी परिभाषाओं के विलुप्त हो जाने से ही सर्वसंग्राहक–सर्वलोकोपयिक–ऐहिक–आमुष्मिक–फल-संग्राहक भी वेदशास्त्र सचमुच भारतीय वेदभक्त महानुभावों की दृष्टि में आज प्रतिमापूजनवत् एक अर्चनीय प्रतिमा ही प्रमाणित हो रहा है। इस से अधिक इस वेद की ज्ञान–विज्ञानाभिन्न सत्ता का और क्या पतन होगा ?।

क्षमता रखता है। वही कुशलतापूर्वक दण्डनीति का सञ्चालन कर सकता है। किम्बहुना–सर्वधाम्‌ प्रशासन–व्यवस्थाओं का कौशलपूर्वक वेदशास्त्रवित्‌ ही सञ्चालन कर सकता है (१३)। मन्त्रबल से प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार गीले वृक्षों तक को जला डालने की क्षमता रखता है एवमेव वेदज्ञानि से समन्वित द्विजाति अपने इस ज्ञानाग्नि से सञ्चित कर्मदोषों को भी क्षणमात्र में भस्मसात्‌ कर देता है (१४)। किन्तु इस सम्बन्ध में द्विजाति को यह नहीं भुला देना चाहिए कि अज्ञान, तथा प्रमादवश होने वाले कर्मदोष ही इस वेदाग्नि से नष्ट होते हैं। जान बूझ कर जो दोष किए जाते हैं, उनका फल तो वेदज्ञ को भी भोगना ही पड़ता है। अतएव वेदबल का आश्रय लेकर अभिमान में आकर कभी वेदज्ञ को असत्‌–कर्मों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए (१५)। जो वेदतत्त्व-ज्ञाननिष्ठा प्राप्त कर लेता है वह यथेच्छ किसी भी आश्रम में रहता हुआ इसी जन्म में ब्रह्मनिष्ठ (विदेहमुक्त) बन जाता है (१६)। (शास्त्रविहित कर्मों का आचरणात्मक) 'तप' एवं कर्माधारभूता तत्त्वज्ञानात्मिका 'विद्या', ये दो ही तो वस्तु द्विजाति के लिए (अभ्युदयसाधनपूर्वक) निःश्रेयसप्रवर्तक उत्कृष्ट साधन माने गए हैं। कर्मात्मक तपोबल से (आचारनिष्ठा से) जहाँ वह द्विजाति पाप-संस्कारों का परिमार्जन करता हुआ बन्धनात्मक मृत्युपाश को तोड़ देता है, वहाँ ज्ञानात्मिका विद्या से (तत्त्वनिष्ठा से) रसनिष्पन्न अमृतभाव को प्राप्त कर लेता है (१७)। वेदमहर्षियों के द्वारा दृष्ट–व्यवस्थित आर्ष विद्यात्मक वेदशास्त्र, तन्मूलक धर्मशास्त्र एवं वेदशास्त्र से अनुगत आत्मा–श्रद्धा–समन्वित तर्कशास्त्र इन तीनों से प्रमाणित जो धर्म (कर्त्तव्य) व्यवस्थित होता है वही वास्तविक धर्म है। (१८)।

इसप्रकार उक्त मनुवचन स्पष्ट ही भारतीय वेदादि शास्त्रों की सर्वाङ्गीणा सर्वविधा–उपयोगिता–व्यावहारिकता का विशद शब्दों में समर्थन कर रहे हैं। अतएव जो महानुभाव किन्हीं कुछ एक धारणाओं से ऐसा मान बैठे हैं कि,–“वेदादि शास्त्र तो केवल आत्मचिन्तन-शास्त्र हैं। इन का लोक-व्यवहारों से कोई सम्बन्ध नहीं है” उनकी इस मान्यता में यत्किञ्चित्‌ भी तथ्य

१९-एकोऽपि वेदविद्-धर्म्मं यं व्यवस्येद्-द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्म्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥

वेद का तात्त्विक-रहस्यवेत्ता एक भी द्विजाति ब्राह्मण अपनी वेदसम्मता ज्ञानविज्ञाननिष्ठा के माध्यम से जिसे 'धर्म्म' रूप से 'कर्त्तव्यनिष्ठा' रूप से व्यवस्थित

नहीं है । वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, अपने व्यावहारिक तन्त्रों से लोकनीति-समाजनीति-नागरिकनीति-राष्ट्रनीति-अन्तर्राष्ट्रीयनीति-आदि व्यवहारजगत् से तन से हमनें वेदशास्त्र को पृथक् मान बैठने की महाभयानक भूल करली है, तभी से भारतराष्ट्र का सर्वाङ्गीण पतन आरम्भ हो गया है ।

कुछ समय पूर्व विहारप्रान्त के सम्भ्रान्त माननीय श्रीरघुनाथविद्याकर महाभाग ने मानवाश्रम पधारने का अनुग्रह किया था । आप से लगभग २-३ घन्टे वेदशास्त्र-प्रसङ्ग में विचारादानप्रदान का अवसर मिला । हमें यह जान कर दुःख हुआ कि, वेदशास्त्र के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी आपने तद्वार्त्ता-प्रसङ्ग में वेदशास्त्र को एवं तन्मूलक इतर शास्त्रों को केवल आत्मचिन्तनपरक ही बतलाते हुए इस सम्बन्ध में अपने ये उद्गार व्यक्त किए कि- 'वेदतत्त्व-चिन्तन में किसी भूत-भौतिक साधन की कोई अपेक्षा नहीं है । यह तो एकान्त में-सब-प्रवृत्तियों से दूर रह कर केवल पारलौकिक शान्ति से सम्बन्ध रखने वाले आत्मचिन्तन का ही क्षेत्र है" इत्यादि ।

सम्भ्रान्त महाभाग के उक्त दृष्टिकोण का इसलिए हमें समादर ही कर लेना चाहिए कि विगत २-३ हजार वर्षों से सचमुच वेदादि-शास्त्र केवल 'आत्मचिन्तन मात्र के महान् व्यामोहन के ही पथ का पथिक प्रमाणित होता आ रहा है । निश्चयेन इसी भ्रान्ति से भारतराष्ट्र को उक्त अवधि में परतन्त्रता के बन्धन-पाश से आबद्ध बना रहना पड़ा है । ज्ञानानुगता वैज्ञानिकी परिभाषाओं के विलुप्त हो जाने से ही सर्वसंग्राहक-सर्वप्रकाशोपनिषत्-ऐहिक-आमुष्मिक-द्वन्द्व संग्राहक भी वेदशास्त्र सचमुच भारतीय वेदभक्त श्रद्धालुओं की दृष्टि में आज प्रतिमापूजनवत् एक अर्चनीय प्रतिमा ही प्रमाणित हो रहा है । इस से अधिक इस देश की ज्ञान-विज्ञानात्मिका प्रज्ञा का और क्या पतन होगा ? ।

क्षमता रखता है। वही कुशलतापूर्वक दण्डनीति का सम्पादन कर सकता है। किम्बहुना—चक्रवर्ती महाराज—सम्राटों का कौशलपूर्वक वेदशास्त्रविद् ही सञ्चालन कर सकता है (१३)। प्रचण्डरूप से प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार गीले वृक्षों तक को जला डालने की क्षमता रखता है एवमेव वेदज्ञानि से समन्वित द्विजाति अपने इस ज्ञानाग्नि से सञ्चित कर्मदोषों को भी तत्काल ही भस्मसात् कर देता है (१४)। किन्तु इस सम्बन्ध में द्विजाति को यह नहीं भुला देना चाहिए कि अज्ञान, तथा प्रमादवश होने वाले कर्मदोष ही इस वेदाग्नि से नष्ट होते हैं। जान बूझ कर जो दोष किए जाते हैं उनका फल तो वेदज्ञ को भी भोगना ही पड़ता है। अतएव वेदज्ञ का आश्रय लेकर अतिमान में आकर कभी वेदज्ञ को असत्–कर्मों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए (१५)। जो वेदतत्त्व ज्ञाननिष्ठा प्राप्त कर लेता है वह भले ही किसी भी आश्रम में रहता हुआ इसी जन्म में ब्रह्मनिष्ठ (विदेहमुक्त) बन जाता है (१६)। (शास्त्रविहित कर्मों का आचरणात्मक) 'तप' एवं कर्माधारभूता तत्त्वज्ञानात्मिका 'विद्या', ये दो ही तो सब द्विजाति के लिए (अभ्युदयसाधनपूर्वक) निःश्रेयसप्रवर्त्तक उत्कृष्ट साधन माने गए हैं। कर्मात्मक तपोबल से (आचारनिष्ठा से) जहाँ वह द्विजाति पाप-संस्कारों का परिमार्जन करता हुआ क्रमशः मृत्युपाश को तोड़ देता है, वहाँ ज्ञानात्मिका विद्या से (तत्त्वनिष्ठा से) स्वनिबन्धन अमृतभाव को प्राप्त कर लेता है (१७)। वेदमहर्षियों के द्वारा दृष्ट–व्यवस्थित आर्ष क्रियात्मक वेदशास्त्र तन्मूलक धर्मशास्त्र एवं वेदशास्त्र से अनुगत शास्त्र–श्रद्धा–समन्वित तर्कशास्त्र इन तीनों से प्रमाणित जो धर्म (कर्त्तव्य) व्यवस्थित होता है वही वास्तविक धर्म है। (१८)।

इसप्रकार उक्त मनुवचन स्वयं ही भारतीय वेदादि शास्त्रों की लोकपरकता सर्वविधा–उपयोगिता–व्यावहारिकता का विस्पष्ट शब्दों में उद्घोष कर रहे हैं। अतएव जो महानुभाव विगत कुछ एक शताब्दियों से ऐसा मान बैठे हैं कि,–"वेदादि शास्त्र तो केवल आत्मचिन्तन–शास्त्र हैं। इन का लोक-व्यवहारों से कोई सम्बन्ध नहीं है" उनकी इस मान्यता में कदाचित भी तथ्य

१६–एकोऽपि वेदविद्–धर्म्मं यं व्यवस्येद्–द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्म्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥

वेद का तात्त्विक–रहस्यवेत्ता एक भी द्विजाति ब्राह्मण अपनी वेदसम्मता ज्ञानविज्ञाननिष्ठा के माध्यम से जिसे 'धर्म्म' रूप से 'कर्त्तव्यनिष्ठा' रूप से व्यवस्थित

नहीं है । वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, अपने व्यावहारिक तन्त्रों से लोकनीति–समाजनीति–नागरिकनीति–राष्ट्रनीति–अन्तर्राष्ट्रीयनीति–आदि व्यवहारतन्त्र से जब से हमनें वेदशास्त्र को पृथक् मान बैठने की महामयानक भूल करली है, तभी से भारतराष्ट्र का सर्वात्मना पतन आरम्भ हो गया है ।

कुछ समय पूर्व विहारप्रान्त के राज्यपाल माननीय श्रीरङ्गनाथदिवाकर महाभाग ने मानवाश्रम पधारने का अनुग्रह किया था । आप से लगभग २–३ घण्टे वेदशास्त्र–प्रसङ्ग में विचारादानप्रदान का अवसर मिला । हमें यह जान कर दुःख हुआ कि वेदशास्त्र के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी आपने तद्वार्त्ता-प्रसङ्ग में वेदशास्त्र को एवं तन्मूलक इतर शास्त्रों को केवल आत्मचिन्तनपरक ही बतलाते हुए इस सम्बन्ध में अपनें ये उद्गार व्यक्त किए कि–"वेदतत्त्व-चिन्तन में किसी भूत–भौतिक साधन की कोई अपेक्षा नहीं है । यह तो एकान्त में–सब–प्रवृत्तियों से दूर रह कर केवल पारलौकिक शान्ति से सम्बन्ध रखने वाले आत्मचिन्तन का ही क्षेत्र है" इत्यादि ।

राज्यपाल महाभाग के उक्त दृष्टिकोण का दृष्टिए हमें सन्तोष ही कर लेना चाहिए कि विगत २–३ हजार वर्षों से सचमुच वेदादि–शास्त्र केवल आत्मचिन्तन मात्र के महान् व्यामोहन के ही पथ का पथिक प्रमाणित होता आ रहा है । निश्चयेन इसी भ्रान्ति से भारतराष्ट्र को उक्त अवधि में परतन्त्रता के बन्धन–पाश से आबद्ध बना रहना पड़ा है । ज्ञानपुरस्सरा वैज्ञानिकी परिभाषाओं के विलुप्त हो जाने से ही सर्वसंग्राहक–सर्वसमन्वयात्मिका–ऐहिक–आमुष्मिक–उभय संग्राहक भी ये शास्त्र सचमुच भारतीय वेदभक्त श्रद्धालुओं की दृष्टि में आज प्रतिमापूजनवत् एक अर्चनीय प्रतिमा ही प्रमाणित हो रहा है । इस से अधिक इस देश की ज्ञान–विज्ञानात्मिका प्रज्ञा का और क्या पतन होगा ! ।

क्षमता रखता है। यही कुशलतापूर्वक दण्डनीति का सञ्चालन कर सकता है। किम्बहुना-सर्वयावत् प्रशासन-व्यवस्थाओं का कौशलपूर्वक वेदशास्त्रविद् ही सञ्चालन कर सकता है (१३)। प्रचण्डवेग से प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार गीले वृक्षों तक को भस्म डालने की क्षमता रखता है एवमेव वेदशास्त्रविद् से समन्वित द्विजाति अपने इस ज्ञानाग्नि से सञ्चित कर्मदोषों को भी क्षणमात्र में भस्मसात् कर देता है (१४)। किन्तु इस सम्बन्ध में द्विजाति को यह नहीं भूल जाना चाहिए कि अज्ञान, तथा प्रमादवश होने वाले कर्मदोष ही इस वेदाग्नि से नष्ट होते हैं। जान बूझ कर जो दोष किए जाते हैं उनका फल तो वेदज्ञ को भी भोगना ही पड़ता है। अतएव वेदज्ञ का आश्रय लेकर अभिमान में आकर कभी वेदज्ञ को असत्-कर्मों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए (१५)। जो वेदतत्त्वज्ञाननिष्ठा प्राप्त कर लेता है वह यथेच्छ किसी भी आश्रम में रहता हुआ इसी जन्म में ब्रह्मनिष्ठ (विदेहमुक्त) बन जाता है (१६)। (शास्त्रसिद्ध कर्मों का आचरणात्मक) 'तप' एवं कर्माधारभूता तत्त्वज्ञानात्मिका 'विद्या', ये दो ही द्विजाति के लिए (अभ्युदयसाधनपूर्वक) निःश्रेयसप्रवर्त्तक उत्कृष्ट साधन माने गए हैं। कर्मात्मक तपोबल से (आचारनिष्ठा से) जहाँ यह द्विजाति पापसंस्कारों का परिमार्जन करता हुआ कालात्मक मृत्युपाश को तोड़ देता है, वहाँ ज्ञानात्मिका विद्या से (तत्त्वनिष्ठा से) रसनिबन्धन अमृतभाव को प्राप्त कर लेता है (१७)। वेदमहर्षियों के द्वारा दृष्ट-व्यवस्थित आर्ष विद्यात्मक वेदशास्त्र, तन्मूलक धर्मशास्त्र एवं वेदशास्त्र से अनुगत आत्मा-श्रद्धा-समन्वित तर्कशास्त्र इन तीनों से प्रमाणित जो धर्म (कर्तव्य) व्यवस्थित होता है वही वास्तविक धर्म है। (१८)।

इसप्रकार उक्त मनुवचन स्पष्ट ही भारतीय वेदादि शास्त्रों की सर्वव्यापीना सर्वविधा-उपयोगिता-व्यावहारिकता का विस्पष्ट शब्दों में धन्यघोष कर रहे हैं। अतएव जो महानुभाव विगत कुछ एक शताब्दियों से ऐसा मान बैठे हैं कि-"वेदादि शास्त्र तो केवल आत्मचिन्तन-शास्त्र हैं। इन का लोक-व्यवहारों से कोई सम्बन्ध नहीं है" उनकी इस मान्यता में कहाँ किञ्चित् भी तथ्य

१६–एकोऽपि वेदविद्–धर्म्मं यं व्यवस्येद्–द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्म्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥

वेद का तात्त्विक–रहस्यवेत्ता एक भी द्विजाति ब्राह्मण अपनी वेदसम्मता धर्मविज्ञाननिष्ठा के माध्यम से जिसे 'धर्म्म' रूप से 'कर्त्तव्यनिष्ठा' रूप से व्यवस्थित

नहीं है । वस्तुस्थिति तो कुछ यही है कि, अपने व्यावहारिक दृष्टों से, लोकनीति–व्यापारनीति–नागरिकनीति–राष्ट्रनीति–अन्तर्राष्ट्रीयनीति–आदि व्यवहारजगत् से जब से हमने वेदशास्त्र को पृथक् मान बैठने की महाव्यामोहक भूल करली है, तभी से भारतराष्ट्र का सर्वाङ्गीण पतन आरम्भ हो गया है ।

कुछ समय पूर्व विद्याश्रम के सम्प्राप्त माननीय श्रीव्रजनाथविभाकर महाभाग ने मानवाश्रम पधारने का अनुग्रह किया था । आप से लगभग २–३ घण्टे वेदशास्त्र–प्रसङ्ग में विचारादानप्रदान का अवसर मिला । हमें यह जान कर क्षुब्ध हुआ कि वेदशास्त्र के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी आपने उदात्त–मस्तक में वेदशास्त्र को एवं तन्मूलक इतर शास्त्रों को केवल आत्मचिन्तनपरक ही बतलाते हुए इस सम्बन्ध में अपने ये उद्गार व्यक्त किए कि– 'वेदतत्त्व–चिन्तन में किसी भूत–भौतिक साधन की कोई अपेक्षा नहीं है । यह तो एकान्त में–सब–प्रवृत्तियों से दूर रह कर केवल पारलौकिक शान्ति से सम्बन्ध रखने वाले आत्मचिन्तन का ही क्षेत्र है' इत्यादि ।

सम्प्राप्त महाभाग के उक्त दृष्टिकोण का इसलिए हमें समादर ही कर लेना चाहिए कि, विगत २–३ हजार वर्षों से सचमुच वेदादि–शास्त्र केवल 'आत्मचिन्तन' मात्र के महान् व्यामोहन के ही पथ का पथिक प्रमाणित होता आ रहा है । निश्चयेन इसी भ्रान्ति से भारतराष्ट्र को उक्त अवधि में परवशता के दारुण–पाश से आबद्ध बना रहना पड़ा है । ज्ञानशून्यता से ... भाषाओं
के विनाश हो जाने से ही सर्वकल्याण–सर्वधर्मोपचित ... –पक्ष–
संरक्षक भी वेदशास्त्र सचमुच भारतीय वैदग्ध्य ... मात्र
प्रतिभापूजनवत् एक सार्वजनीन प्रतिमा ही प्रमाणित हो ... अधिक
... क्या कहा

क्षमता रखता है। यही कुशलतापूर्वक दण्डनीति का सम्पालन कर सकता है किम्बहुना—भवयाश्रद् प्रशासन—व्यवस्थाओं का कौशलपूर्वक वेदशास्त्रविद् ही सञ्चालन कर सकता है (१३)। प्रचण्डरूप से प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार गीले वृक्षों तक को जला डालने की क्षमता रखता है एवमेव वेदशास्त्रविद् से समन्वित द्विजाति अपने इस ज्ञानाग्नि से संचित कर्मदोषों को भी तत्क्षण भस्मसात् कर देता है (१४)। किन्तु इस सम्बन्ध में द्विजाति को यह नहीं मान लेना चाहिए कि अज्ञान, तथा प्रमादवश होने वाले कर्मदोष ही इस वेदाग्नि से नष्ट होते हैं। जान बूझ कर जो दोष किए जाते हैं, उनका फल तो वेदज्ञ को भी भोगना ही पड़ता है। अतएव वेदज्ञ का आश्रय लेकर अतिमान में आकर कभी वेदज्ञ को असद्—कर्मों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए (१५)। जो वेदतत्त्वज्ञाननिष्ठा प्राप्त कर लेता है वह व्यक्ति किसी भी आश्रम में रहता हुआ इस जन्म में ब्रह्मनिष्ठ (विदेहमुक्त) बन जाता है (१६)। (शास्त्रविहित कर्मों आचरणात्मक) 'तप' एवं कर्माधारभूता तत्त्वज्ञानात्मिका 'विद्या' ये दो ही तत्त्व द्विजाति के लिए (अभ्युदयसाधनपूर्वक) निःश्रेयसप्रवर्तक साधन माने गए हैं। कर्मात्मिका तपोनिष्ठा से (आचारनिष्ठा से) जहाँ यह द्विजाति पाप संस्कारों का परिमार्जन करता हुआ क्लेशात्मक मृत्युपाश को तोड़ देता है, वहाँ ज्ञानात्मिका विद्या से (तत्त्वनिष्ठा से) रसनिबन्धन अमृतभाव को प्राप्त होता है (१७)। वेदमर्मज्ञों के द्वारा दृष्ट—व्यवस्थित आर्ष विद्यात्मक वेदशास्त्र तन्मूलक धर्मशास्त्र एवं वेदशास्त्र से अनुगत आन्वीक्षिकी—प्रज्ञा—समन्वित तर्कशास्त्र इन तीनों से प्रमाणित जो धर्म (कर्त्तव्य) व्यवस्थित होगा वही वास्तविक धर्म है। (१८)।

इसप्रकार उक्त मनुवचन स्पष्ट ही भारतीय वेदादि शास्त्रों की सर्वकालीन सर्वविधा—उपयोगिता—व्यावहारिकता का विशद शब्दों में उद्घोष कर रहे हैं अतएव जो महानुभाव बिगत कुछ एक शताब्दियों से ऐसा मान बैठे हैं कि, "वेदादि शास्त्र तो केवल आस्थमविश्वास-शास्त्र हैं। इन का लोक व्यवहारों से कोई सम्बन्ध नहीं है" उनकी इस मान्यता में कोई भित् भी तथ्य

१६-एकोऽपि वेदविद्-धर्म्मं यं व्यवस्येद्-द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्म्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥

वेद का तात्त्विक-रहस्यवेत्ता एक भी द्विजाति ब्राह्मण अपनी वेदसम्मता ज्ञानविज्ञाननिष्ठा के माध्यम से जिसे 'धर्म्म' रूप से 'कर्त्तव्यनिष्ठा' रूप से व्यवस्थित

नहीं है। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, अपने व्यावहारिक कर्मों से लोकनीति-व्यावनीति-नागरिकनीति-राष्ट्रनीति-अन्तर्राष्ट्रीयनीति-आदि व्यवहारजगत् से जब से हमनें वेदशास्त्र को दूषण मान बैठने की महाभयानक भूल करली है, तभी से भारतराष्ट्र का सर्वाङ्गीण पतन आरम्भ हो गया है।

कुछ समय पूर्व बिहारप्रान्त के राज्यपाल माननीय श्रीरङ्गनाथदिवाकर महाभाग ने मानवाश्रम पधारने का अनुग्रह किया था। आप से लगभग २-३ घण्टे वेदशास्त्र-प्रसङ्ग में विचारादानप्रदान का अवसर मिला। हमें यह जान कर दुःख हुआ कि, वेदशास्त्र के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी आपने तद्वार्त्ता-प्रसङ्ग में वेदशास्त्र को एवं तन्मूलक इतर शास्त्रों को केवल आत्मचिन्तनपरक ही बतलाते हुए इस सम्बन्ध में अपने ये उद्गार व्यक्त किए कि-"वेदतत्त्व-चिन्तन में किसी भूत-भौतिक साधन की कोई अपेक्षा नहीं है। यह तो एकान्त में-सब-प्रवृत्तियों से दूर रह कर केवल पारलौकिक शान्ति से सम्बन्ध रखने वाले आत्मचिन्तन का ही क्षेत्र है" इत्यादि।

राज्यपाल महाभाग के उक्त दृष्टिकोण का इसलिए हमें स्वागत ही कर लेना चाहिए कि विगत २-३ हजार वर्षों से सचमुच वेदादि-शास्त्र केवल 'आत्मचिन्तन' मात्र के महान् व्यामोहन के ही पथ का पथिक प्रमाणित होता आ रहा है। निरपवादेन इसी भ्रान्ति से भारतराष्ट्र को उक्त अवधि में परतन्त्रता के बन्धन-पाश से आबद्ध बना रहना पड़ा है। ज्ञानानुगता वैज्ञानिकी परिभाषाओं के विलुप्त हो जाने से ही सर्वसंरक्षक-सर्वलोकोपदेशक-ऐहिक-आमुष्मिक-सुख संसाधक भी वेदशास्त्र सचमुच भारतीय वेदभक्त श्रद्धालुओं की दृष्टि में आज अतिमानुषवत् एक अर्चनीय प्रतिमा ही प्रमाणित हो रहा है। इस से अधिक इस देश की ज्ञान-विज्ञाननिष्ठ प्रज्ञा का और क्या पतन होगा !।

भाव समाहित होते हैं। और यही 'द्युम्नतेज' है। जिस मानस ज्ञान की प्रधानता से कामिक्य-व्यवसायादि समाहित होते हैं वही 'सुम्नतेज' है। जिस बौद्धिक ज्ञान की प्रधानता से शास्त्रानुशास्त्रादि-भाव समाहित होते हैं, वही 'ब्रह्मतेज' है। एवं जिस आत्मज्ञान से स्वरूपबोधपूर्वक इन तीनों तेजों का समाधान होता है सर्वमूलभूत वही तेज 'ब्रह्मतेज' है वही 'वर्चतेज' है, जो 'महत्' नामक ब्रह्म का ही प्रातिस्विक तेज माना गया है एवं जिस ब्रह्मतेजोमय हृदय के बल से सबको स्व-स्व-नियत-कर्म्म कर्म्मों में एकनिष्ठ बना हुआ रहना पड़ता है।

१-वर्चतेज (ब्रह्मतेजः)-आत्मानुगतं पारमेष्ठ्यम्-(ब्रह्मनिष्ठा-अत्र प्रधाना)।

२-ब्रह्मतेज (क्षत्रतेज)-बुद्ध्यनुगतं-सौरम् शास्त्रनिष्ठा-अत्र प्रधाना)।

३-सुम्नतेजः (विट्तेज)-मनोऽनुगतं-चान्द्रम् (व्यवसायनिष्ठा-अत्र प्रधाना)।

४-द्युम्नतेजः (पौष्यतेज)-शरीरानुगतं-पार्थिवम् (मूलनिष्ठा-अत्र प्रधाना)।

अपने भाव के लिए मानव-समाज में ज्ञान तो रहता ही है। किन्तु एवंविध सामान्य ज्ञान यहाँ मूलप्रतिष्ठारूप से अभिप्रेत नहीं है जिस (सामान्यज्ञान) का कि वर्तमान शिक्षापद्धति में प्रचण्ड उद्घोष किया जा रहा है। वर्तमान-शिक्षा के माध्यम से मानव को जो ज्ञानसम्पत् प्राप्त होती है, वह मात्र वाणिज्यानुगत सुम्नतेज एवं शिल्पकलानुगत 'द्युम्नतेज' पर ही विश्रान्त है। अधिक से अधिक कथाञ्चित्रूप से अनुशासनात्मक 'ब्रह्मतेज भी शिक्षाक्षेत्र में अन्तर्भूत मान लिया जा सकता है। किन्तु सर्वमूलभूत 'ब्रह्मवर्च' नामक मौलिक तत्त्व का तो वर्तमान शिक्षा एवं शिक्षाप्रणाली में सर्वथा अभाव ही है जिस अभाव के कारण शेष तीनों भाव कुछ भी तो महत्त्व नहीं रख रहे हैं। बिना इस ब्रह्मवर्च के मूलप्रतिष्ठान के राष्ट्र के ब्रह्म-सुम्न-द्युम्न-तीनों ही अभिभूत बने रहते हैं जैसा कि अन्यत्र (प्रकाशित ग्रन्थों में यत्रतत्र) स्पष्ट किया गया है। उसी सर्वमूलभूत-सर्वसत्ता-सर्वप्रत्यवधिरलेखक-सर्वप्रत्यावर्तक-सर्वस्पन्द-मौलिक ज्ञान को प्रधान लक्ष्य बनाते हुए, उसी की अपने राष्ट्र के लिए प्रधान, एवं प्रथम-कामना करते हुए ऋषि ने कहा है—

कर्म समाश्रित होते हैं। और यही 'द्युम्नतेज' है। जिस मानस ज्ञान की प्रधानता से वाणिज्य-व्यवसायादि समाश्रित होते हैं वही 'सुम्नतेज' है। जिस बौद्धिक ज्ञान की प्रधानता से शासनानुशासनादि-भाव समाश्रित होते हैं वही 'भ्राजतेज' है। एवं जिस आत्मज्ञान से स्वस्वरूपबोधपूर्वक इन तीनों तेजों का उत्थान होता है सर्वमूलभूत वही तेज 'ब्रह्मतेज' है वही 'वर्चतेज' है जो 'ब्रह्म' नामक वर्ण का ही प्रातिस्विक तेज माना गया है एवं जिस ब्रह्मतेजोमय द्रव्य के बल से इनको स्व-स्व-नियत-कर्त्तव्य कर्मों में प्रतिष्ठित बना ही रहना पड़ता है।

१-वर्चतेज (ब्रह्मतेज)-आत्मानुगतं पारमेष्ठ्यम्-(ब्रह्मनिष्ठा-अत्र प्रधाना)।

२-भ्राजतेज (क्षत्रतेजः)-बुद्ध्यनुगतं-सौरम् (शासननिष्ठा-अत्र प्रधाना)।

३-सुम्नतेजः (विट्तेज)-मनोऽनुगतं-चान्द्रम् (व्यवसायनिष्ठा-अत्र प्रधाना)।

४-द्युम्नतेजः (पौष्यतेज)-शरीरानुगतं-पार्थिवम् (भूतनिष्ठा-अत्र प्रधाना)।

जीने मात्र के लिए मानव-समाज में ज्ञान तो रहता ही है। किन्तु एवंविध सामान्य-ज्ञान यहाँ मूलप्रतिष्ठारूप से अभिप्रेत नहीं है जिस (सामान्यज्ञान) का कि वर्त्तमान शिक्षापद्धति में प्रचुर उपयोग किया जा रहा है। वर्त्तमान-शिक्षा के माध्यम से मानव को जो ज्ञानसम्पत् प्राप्त होती है, वह मात्र वाणिज्यानुगत 'सुम्नतेज' एवं शिल्पकलाद्यनुगत 'द्युम्नतेज' पर ही विश्रान्त है। अधिक से अधिक व्यापकरूप से अनुशासनात्मक 'भ्राजतेज' भी शिक्षाक्षेत्र में अन्तर्भूत मान लिया जा सकता है। किन्तु सर्वमूलभूत 'ब्रह्मवर्च' नामक मौलिक ज्ञान का तो वर्त्तमान शिक्षा, एवं शिक्षाप्रणाली में सर्वथा अभाव ही है जिस अभाव के कारण शेष तीनों भाव कुछ भी तो महत्त्व नहीं रख रहे। बिना इस ब्रह्मवर्च के मूलप्रतिष्ठान के राष्ट्र के भ्राज-सुम्न-द्युम्न-तीनों ही अभिभूत बने रहते हैं, जैसाकि अन्यत्र (प्रकाशित ग्रन्थों में यत्रतत्र) स्पष्ट किया गया है। उसी सर्वमूलभूत-सर्वाधारसत्ता-सर्वान्तर्यामिविशेषक-सर्वव्यापक-सर्वात्मक-मौलिक ज्ञान को प्रधान लक्ष्य बनाते हुए, उसी की अपने राष्ट्र के लिए प्रधान, एवं प्रथम कामना करते हुए ऋषि ने कहा है—

"आ ब्रह्मन् ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्"

इत्थंभूत ज्ञानविज्ञाननिष्ठ ज्ञानप्रचारक-वर्ग ही 'ब्रह्म' सम्बन्ध से राष्ट्र का गोप्ता-वर्ग माना गया है जिसका प्रधान कर्म्म है—वैदिकज्ञान-(विज्ञान)-विशेष तत्त्वों के चिरन्तन अनुष्ठान के माध्यम से राष्ट्र में जागरूकता उत्पन्न करते रहना। इसी तत्त्व (ज्ञाननिष्ठा) के आधार पर भारतराष्ट्र के चिरन्तन मानव (ऋषि) ने भारतराष्ट्र की प्रथम कामना ब्रह्मवर्चस ही मानी है। जो (क्रियाविज्ञानशून्य) ब्रह्मवर्चस्वरूप मौलिक ज्ञान से शून्य है उनके लिए राजर्षि ने कहा है—

यथा काष्ठमयो हस्ती, यथा चम्ममयो मृग ।।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नामधारका ।।१।।
यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु, यथा गौगवि चाफला ।।
यथाचाज्ञेऽफलं दान तथा विप्रोऽनृचोऽफल: ।।२।।

मनु: २।१५७।१५८

अब राष्ट्र की दूसरी कामना को लक्ष्य बनाइए। क्षत्र-प्रधान क्षत्रिय-वर्ग ही रक्षाकर्म्म का अन्यतम साधन है। एवं सुतीक्ष्ण शस्त्रास्त्र प्रयोग में दूरातिदूर लक्ष्यवेधन में समर्थ रथ, अर्थात् वाहनसम्पत्ति रक्षाकर्म्म के इतर साधन हैं। दोनों साधनों से सुसम्पन्न शासक ही रक्षाकर्म्म में सफलता प्राप्त कर सकता है, जिस रक्षानिमित्तक योग्यता का श्रुति में चार प्रकार से वर्गीकरण किया है। इन में पहली योग्यता है "(१)—शारीरबल। इसी के लिए—'शूर' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। क्षत्रिय का शारीरिक संगठन सुदृढ स्नायुमण्डल—से सम्पन्न होना चाहिए, जिसके परिपोषक कर्म्म हैं शासक की आहारशुद्धता एवं ब्रह्मचर्य-विनय—अनुष्ठान। शरीर से अशक्त, वीर्य्य से रहित शासक 'शासक' है नाममात्र को केवल है। ऐसे अशक्त निर्वीर्य्य शासक कभी बाह्य आक्रमणों से राष्ट्र का संरक्षण नहीं कर सकता नहीं कर सकता।

केवल शरीरबल, किंवा शूरता के बल पर

हो। शस्त्रास्त्ररूप बहिःसाधन ही शूरता-प्रदर्शन शूरतोपयोग के अन्यतम
धन माने गए हैं। यही शासकवर्ग की दूसरी योग्यता है जिसका (२) इषव्य
विशेषण से स्पष्टीकरण हुआ है। शूर भी, इषव्य भी शासक यदि आहार-विहार
की अनियमितता खानपान की अनियमितता-असमर्थता के द्वारा रोगाक्रान्त
ना रहता है तो उसकी शूरता कालान्तर में पलायित हो जाती है जिसके प्रत्यक्ष
दर्शन आज के अशन-पान-कर्त्ता रुग्ण-हीन-योग्यताविहीन अमुक महानुभाव
मारित न रहे हैं। अतएव यह आवश्यक है कि शासक अपने आहार-विहार
नियमन-द्वारा रोगों से अतिक्रान्त रहे। यही इनकी तीसरी योग्यता मानी गई है
इसके लिए (३) अतिव्याधी' विशेषण उपयुक्त हुआ है।

शासक 'शूर' भी है पर्याप्त शस्त्रास्त्र-बलों से भी समन्वित है पूर्णरूपेण
स्थ भी है। किन्तु ऐसे शासकभेद को भी अवश्य ही आक्रमण-रक्षा के
ए निरूर अनुधावन करना ही पड़ता है (किया करना ही चाहिए)। राज-
ति का यह सिद्धान्त है कि आक्रमणकारी (शत्रु) को कभी अपने राष्ट्र में
वेश ही नहीं होने देना चाहिए। अपितु जहाँ भी (जिस अपने प्रदेश में
) आक्रमणकारी है (रहता है) उस स्थान पर स्वयं शासक को पहुँच कर
सका दमन करना चाहिए। स्वयं का अनुधावन ही राष्ट्र को आततायी-वर्ग के
आक्रमण की परम्पराओं से बचाने में क्षमता प्राप्त किया करता है। इसके लिए
सब वाहनसम्पत्ति राष्ट्र के पास अनिवार्यरूप से अपेक्षित है। यही राष्ट्रसम्पत्ति
) 'महारथ' इस विशेषण के द्वारा अभिव्यक्त हुई है। इसप्रकार-शासक-
वर्ग के लिए इन चारों बलों की अनिवार्यता प्रमाणित हो जाती है।
चारों प्रकार के अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग-साधनों से अर्थात् 'शूर' और 'अतिव्याधी'
इन अन्तरङ्गबलों से एवं 'इषव्या' 'महारथः' इनका बहिरङ्गबलों से समन्वित,
अन्तरङ्गरक्षापेक्षया सुसज्जित बहिरङ्गरक्षापेक्षया कर्त्ता शासक 'अभिगन्ता
राष्ट्र के पौरोहित्य का अनुगमन करता हुआ अर्थात् ब्रह्मवर्ग को अपना पथ-
प्रदर्शक मानता हुआ सर्वथा ही राष्ट्र का संरक्षण करने में पूर्ण समर्थ हो जाता
। इसी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए अपनी दूसरी कामना को अभिव्यक्त
करते हुए वेदमहर्षि ने कहा—

ही ज्ञानबल का विकासक बनता है। एवं यही अर्थबल शास्त्रव्यवहारदण्डात्मक शासनबल को भी स्वस्थ बनाता है। इसी आधार पर यह कहा और माना जा सकता है कि—'अर्थबल की रक्षा करता हुआ ब्राह्मणवर्ग तथा शासकवर्ग स्वयं ही इसी अर्थबल के द्वारा स्वस्वरूप-विकास-संरक्षण में समर्थ बनता है'। दूसरे शब्दों में जिस राष्ट्र का अर्थबल स्वतन्त्रतापूर्वक सुसमृद्ध रहता है, उसी राष्ट्र में ज्ञानबल एवं पौरुषबल विकसित रहते हैं। उसी राष्ट्र में शासन शक्तियाँ विकसित हुआ करती हैं। और इस मौलिक-मीमांसा की दृष्टि से अर्थपरतन्त्रता को ही राष्ट्रपरतन्त्रता का कारण माना जा सकता है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर वर्तमान राष्ट्रीय दृष्टिकोण का भी समर्थन किया जा सकता है। किन्तु इस समर्थन के साथ साथ इस तथ्य के साथ भी गजनि मीलिका नहीं की जा सकती, नहीं की जानी चाहिये कि, ज्ञान-कर्म्म का अभिभव एवं केवल अर्थ का ही प्राधान्य कालान्तर में निश्चय ही अर्थविलुप्ति का, अर्थ-सर्वनाश का ही कारण बन जाया करता है। ज्ञान-कर्म्म के सर्वात्मना सुविकसित बने रहते हुए संसार की कोई भी आक्रमण-शक्ति ज्ञान-कर्म्म समन्वित राष्ट्र के अर्थबल पर अपनी गिद्धदृष्टि-निक्षेप द्वारा अपने सर्वनाश के आमन्त्रण का साहस (किंवा दुःसाहस) नहीं कर सकती। इसी आधार पर यह भी कहा, और माना ही जा सकता है कि ज्ञान, और कर्म्म की आत्यन्तिक उपेक्षा कर जो राष्ट्र संसर्गदोष से भूतासक्तिमूला भूतैषणा (एवं तन्मूला अन्तर्राष्ट्रीय-स्पर्धारूपा लोकैषणा-नाममात्रैषणा) के आकर्षण (व्यामोहन) से केवल अर्थस्वातन्त्र्य को ही (राष्ट्र की) 'स्वतन्त्रता घोषित कर देता है ज्ञान-कर्म्म-सहयोग से वञ्चिता ऐसी अर्थस्वतन्त्रता सर्वथा अस्थिर, साथ ही कालान्तर में नैष्ठिक आक्रान्ताओं के आक्रमण से विगलित बनती हुई अन्ततोगत्वा परतन्त्रता का ही कारण प्रमाणित हो जाया करती है। अतएव हमें कहना पड़ेगा कि इस स्वतन्त्रता के मूल में अवश्य ही कर्म्म एवं कर्म्म के मूल में अवश्य ही ज्ञान प्रतिष्ठित होना ही चाहिये।

[1] जिस अर्थशक्ति की अवतक मीमांसा हुई है, उसका क्या स्वरूप ?। क्या मुक्ता-मणि-मरकतादि रत्नवर्ग, सुवर्ण-रजत-ताम्रादि धातुवर्ग, तथा वर्तमान

ही ज्ञानबल का विकासक बनता है। एवं यही अर्थबल शासनव्यवस्थारक्षात्मक शासनबल को भी सबल बनाता है। इसी आधार पर यह कहा, और माना जा सकता है कि—'अर्थबल की रक्षा करता हुआ ब्राह्मणवर्ग, तथा शासकवर्ग स्वयं ही इसी अर्थबल के द्वारा स्वस्वरूप-विकास-संरक्षण में समर्थ बनता है'। दूसरे शब्दों में जिस राष्ट्र का अर्थबल स्वतन्त्रतापूर्वक सुसमृद्ध रहता है उसी राष्ट्र में ज्ञानबल एवं पौरुषबल विकसित रहते हैं। उसी राष्ट्र में शासन शक्तियाँ विकसित हुआ करती हैं। और इस भौतिक-मीमांसा की दृष्टि से अर्थपरतन्त्रता को ही राष्ट्रपरतन्त्रता का कारण माना जा सकता है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर वर्त्तमान राष्ट्रीय दृष्टिकोण का भी समर्थन किया जा सकता है। किन्तु इस समर्थन के साथ साथ इस तथ्य के साथ भी गजनिमीलिका नहीं की जा सकती, नहीं की जानी चाहिये कि, ज्ञान-कर्म्म का अभिभव एवं केवल अर्थ का ही प्राधान्य कालान्तर में निश्चय ही अर्थविलुप्ति का, अर्थ-सर्वनाश का ही कारण बन जाया करता है। ज्ञान-कर्म्म के सर्वात्मना प्रतिष्ठित बने रहते हुए संसार की कोई भी आक्रमण-शक्ति ज्ञान-कर्म्म समन्वित राष्ट्र के अर्थबल पर अपनी गिद्धदृष्टि-निक्षेप द्वारा अपने सर्वनाश के आमन्त्रण का साहस (किंवा दुःसाहस) नहीं कर सकती। इसी आधार पर यह भी कहा, और माना ही जा सकता है कि ज्ञान और कर्म्म की आत्यन्तिक उपेक्षा कर जो राष्ट्र संसर्गदोष से भूतासक्तिमूला भूतैषणा (एवं तन्मूला अन्तर्राष्ट्रीय-स्पर्धारूपा लोकैषणा-नाममात्रैषणा) के आकर्षण (व्यामोहन) से केवल अर्थस्वातन्त्र्य को ही (राष्ट्र की) 'स्वतन्त्रता घोषित कर देता है ज्ञान-कर्म्म-सहयोग से वञ्चिता ऐसी अर्थस्वतन्त्रता सर्वथा अस्थिर, साथ ही कालान्तर में नवीन आक्रमणों के आक्रमण से विगलित बनती हुई अन्ततोगत्वा परतन्त्रता का ही कारण प्रमाणित हो जाया करती है। अतएव हमें कहना पड़ेगा कि इस स्वतन्त्रता के मूल में अवश्य ही कर्म्म एवं कर्म्म के मूल में अवश्य ही ज्ञान प्रतिष्ठित होना ही चाहिये।

जिस अर्थशक्ति की अबतक मीमांसा हुई है, उसका क्या स्वरूप ?। क्या पशु—[illegible] -पाषाणादि रत्नवर्ग, सुवर्ण-रजत-ताम्रादि धातुवर्ग, तथा वर्त्तमान

युग में प्रचलित विविधाकृतियुक्त 'नोट्स' आदि का नाम ही अर्थ है !! क्या चिरन्तन मानव ने इसी (व्यामोहन) को अर्थशक्ति घोषित किया है !! नहीं । सर्वथा नहीं । कदापि नहीं । वस्तुस्थिति तो इस दिशा में कुछ ऐसी है कि, जब से कुछ एक शताब्दियों–से लोकनीति–कुशल–प्रवीण–शासनतन्त्र से मुद्रा ने अर्थ का प्रधान आसन ग्रहण किया है तभी से अर्थक्षेत्र में अनर्थ–परम्परा का प्रवाह प्रवाहित हो पड़ा है । शत–सहस्र–लक्ष–कोटि आदि शब्दों के व्यामोहनानुग्रह से मानव–समाज की वास्तविक प्राकृतिक अर्थसम्पत्ति उत्तरोत्तर ही प्रभावित हो रही है । राष्ट्र की प्राकृतिक अर्थशक्ति का वास्तविक स्वरूप तो कृषि–गोरक्षा, एवं वाणिज्य पर ही अवलम्बित है ।

अन्य प्रान्तों में उत्पन्न भूतसम्पत्ति का अन्य प्रान्तों में उत्पन्न भूतसम्पत्ति के माध्यम से परस्पर विनिमय करते हुए उन प्रान्तों की भूतपरिग्रहमूला आवश्यकताओं के समाधान करने का जो प्रकार है वही 'वाणिज्य' नाम से प्रसिद्ध है, जो तत्त्वपरिभाषया विशुद्ध मुद्राकोलुप अर्थपतियों (पूँजीपतियों) के अनुग्रह से आज एकान्ततः विलुप्त हो चली है । उदाहरण, विशुद्ध भावितिक आज का तूल (रुई)–रजत (चाँदी)–शाकर्स आदि भावानुगत व्यवसाय (सट्टा), जिसमें बिना ही उपलम्भक रुई आदि के सर्वथा स्वर्ग–अभिमान (मिथ्या आरोप) किया जा रहा है । ऐसे इस वस्तुमात्रात्मक (कल्पित–भाविमात्रिक) वाणिज्य–व्यवसाय से राष्ट्र की अर्थशक्ति किस दुर्वेग से विनाशोन्मुखा बनती जा रही है, प्रश्न के संस्मरणमात्र से भी तत्त्वगवेषकों का हृत्कम्प हो पड़ता है ।

प्रास्तां तावत् । भारतीय चिरन्तन मानव ने ओषधि वनस्पतियों के उत्पन्न संरक्षण–पूर्वक इस अन्नसम्पत्ति की व्याप्ति के लिए मानव–प्रजा के स्वास्थ्य–संरक्षण के निमित्तभूत साथ ही अन्नसम्पत्ति के समुत्पादक गोवंश के संरक्षण के लिए, एवं कृषिद्वारा उत्पन्न ओषधि–वनस्पति–वर्ग के तथा अन्यान्य खनिज द्रव्यों के विनिमय के लिए अर्थतन्त्र का क्रमशः कृषि–गोरक्ष–वाणिज्य इन तीन विभागों में वर्गीकरण किया । एवं वर्गात्मक इस अर्थतन्त्र की सुव्यवस्था के लिए ही कृषि–गोरक्ष–वाणिज्य–ये तीन विभाग व्यवस्थित हुए ।

अर्थसत्तानुरूप, अध्यात्मनिष्ठ मानव ही कर्मस्वरूप-संसिद्धि के लिए इस अर्थतत्त्व के संरक्षण में प्रवृत्त हुआ करता है, जिसमें 'गोवंश' ही प्रमुख माना गया है । गोवंश की प्रमुखता में एक ओर जहाँ राष्ट्र की आधिभौतिक-लौकिक समृद्धि का बीज निहित है वहाँ दूसरी ओर आध्यात्मिक तत्त्व-स्वस्वरूपभाव भी इस की प्रमुखता में समाहित है । प्राणविद्यानुसार 'गोपशु' श्रेष्ठ पशु माना गया है। और-त्रिलोकी के पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-नामक तीनों लोकों में प्रतिष्ठित, क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य-इन तीन अधिष्ठाता-देवताओं से अनुप्राणित ८ वसु, ११ रुद्र १२ आदित्य तदुपलक्षित सम्बद्ध नासत्य-दस्र-नामक दो अश्विनी-कुमार, ये ३३ प्राणदेवता पार्थिव गौपशु में अन्तर्याम-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहते हैं। अग्नीषोमप्रधान ब्राह्मण में जिसप्रकार (वान्तपनाग्नि नामक) प्राणदेवता अभिव्यक्त है तथैव गोपशु में भी उक्त प्राणदेवता अभिव्यक्त हैं। अतएव गौतत्त्व का स्वरूप-निरूपण करते हुए वेदमहर्षि ने कहा है—

> माता रुद्राणां-दुहिता वसूनां-
> स्वसाऽदित्यानाममृतस्य नाभिः ।
> प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय-
> मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥
> —ऋक्संहिता

इसी आधार पर भारतीय चिरन्तन मानव की यह मान्यता तथा आस्था रही है कि, राष्ट्र की भौतिक-आध्यात्मिक-सुखसमृद्धि-सफलता (शारीरिक स्वास्थ्य) आदि का मुख्य श्रेय गोवंश को ही प्राप्त है। जो राष्ट्र गोवंश की उपेक्षा कर देता है जिस राष्ट्र का गोधन निर्बल तथा अपहित बन जाता है उस राष्ट्र का सर्वनाश सुनिश्चित बन जाया करता है। भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण का गोचारण कर्म-राष्ट्रीय प्रजा का ध्यान इसी राष्ट्रीय-प्रमुख धन-अर्थतत्त्व-गोवंश के संरक्षण की ओर ही आकर्षित कर रहा है। इसी आधार पर भगवान् वेद ने भी-'दोग्ध्री पशुः' इत्यादिरूप से इसी गोवंश की कामना अभिव्यक्त की है।

युग में प्रचलित विभिन्नाकृतिमुद्रक 'नोट्स' आदि का नाम ही अपवाद है ।। क्या चिरन्तन मानव ने इसी (व्यामोहन) को अर्थराशि घोषित किया है ।। नहीं । सर्वथा नहीं । कदापि नहीं । वस्तुस्थिति तो इस दिशा में कुछ ऐसी है कि, जब से कुछ एक शताब्दियों से लोकनीति-कुशल-नवीन्य-शासनतन्त्र ने इस ने अर्थ का प्रधान आसन ग्रहण किया है तभी से अर्थक्षेत्र में अनर्थ-परम्परा का प्रवाह प्रवाहित हो पड़ा है । शत-सहस्र-लक्ष-कोटि-आदि संख्या के व्यामोहनानुग्रह से मानव-समाज की वास्तविक प्राकृतिक अर्थसम्पत्ति तिरोहित ही प्रमाणित हो रही है । राष्ट्र की प्राकृतिक अर्थराशि का वास्तविक स्वरूप तो कृषि-गोरक्षा, एवं वाणिज्य पर ही अवलम्बित है ।

अन्य प्रान्तों में उत्पन्न भूतसम्पत्ति का अन्य प्रान्तों में उत्पन्न भूतसम्पत्ति के माध्यम से परस्पर विनिमय करते हुए उन प्रान्तों की भूतपरिस्थितिमूला आवश्यकताओं के समाधान करने का जो प्रकार है, वही 'वाणिज्य' नाम से प्रसिद्ध है, जो वर्तमानपरिभाषा विशुद्ध मुद्रालोलुप अर्थपतियों (पूँजीपतियों) के अनुग्रह से आज एकान्ततः विलुप्त हो चली है । उदाहरण, विशुद्ध भारतीय ग्राम का तूल (रुई)-रजत (चाँदी)-सोमसर्ष आदि मात्रानुगत व्यवसाय (सट्टा), जिसमें बिना ही वस्तुग्रहण रुई आदि के सर्वथा स्वर्ण-अभिमान (मिथ्या आरोप) किया जा रहा है । ऐसे इस वस्तुशून्यवाणिज्य (कल्पित-पारिभाषिक) वाणिज्य-व्यवसाय से राष्ट्र की अर्थराशि किस द्रुतवेग से विनाशोन्मुखा बनती जा रही है ?, प्रश्न के संस्मरणमात्र से भी व्यावहारिकों का हृत्कम्प हो पड़ता है ।

अस्तां तावत् । भारतीय चिरन्तन मानव ने ओषधि वनस्पतियों के उत्पादन संरक्षण-पूर्वक इस अन्नसम्पत्ति की समृद्धि के लिए, मानव-प्रजा के स्वास्थ्य-संरक्षण के निमित्तभूत, साथ ही पशुसम्पत्ति के अनुग्राहक गोवंश के संरक्षण के लिए, एवं इतरेतर उत्पन्न ओषधि-वनस्पति-वर्ग के तथा अन्यान्य खनिज द्रव्यों के विनिमय के लिए अर्थतन्त्र का क्रमशः कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य इन तीन विभागों में वर्गीकरण किया । एवं अर्थतन्त्रात्मक इन अर्थतन्त्र की सुव्यवस्था के लिए ही कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य-ये तीन विभाग व्यवस्थित हुए ।

'माधुमति' से 'वाग्विस्मरंरराण' माना गया। इन तीनों के द्वारा
नि का पूर्ण संरक्षण अभिव्यक्त हुआ राष्ट्रमानव की कामना से।

अब 'सुसन्तति' का प्रश्न भारतीय प्रजा के सम्मुख उपस्थित हुआ। प्रतीच्य
(पश्चिमी) संस्कृति-सभ्यता-आचार्य-शिक्षाप्रणाली (पद्धति)-शिक्षाविषय (पाठ्य-
) आदि के माध्यम को प्रधान मानने वाले वर्तमान युग के भूतशिक्षाप्रधान-
...शिक्षालयों में प्रतीच्य शिक्षा-दीक्षा-द्वारा शिक्षित-दीक्षित बन कर
(भारतीय) शिक्षा तन्मूला संस्कृति-सभ्यता तन्मूलक आचार्य तन्मूला
...य आचार-व्यवहार-मर्यादा-आदि-के प्रति आत्यन्तिकरूप से तिरस्कार-
...न उत्पन्न करते हुए, प्रतीच्य-सभ्यता-संस्कृति-आचार्य-तन्मूला वेशभूषा-
...भाषा-उच्छृङ्खलता-आदि को प्रोत्साहन प्रदान करते हुए, सर्वोपरि एतच्छिक्षा
...के माध्यम से सहशिक्षा-प्राकृतिक-बौद्धिक-उच्छृङ्खलता की ओर से
...बनाए रखते हुए 'भारतनारी' का बीज जो कुछ स्वरूप आज
...समाज में उपस्थित किया जा रहा है क्या तथाविध नारीसमाज ही
...ऐसा राष्ट्रीय-मानवप्रजा के सर्जन में समर्थ बन सकता है ?, नेति होवाच।
...निर्वीर्या-आपतताम् यही इस सम्बन्ध में वेद के उद्गार हैं। भारत राष्ट्र
...'पुरन्धि' नारी-(जिसका अर्थ है पुर को-कुटुम्ब को-धारण करने वाली) ही
...रही है। अपनी सन्तति-पति-श्वशुर-श्वश्रू-देवर-ननान्दादि-सम्बन्धाः सामा-
...जिक एवं राष्ट्रीय (लौकिक-पारलौकिक)-कामनाएँ जिसकी सहयोगिनी हों 'पुर'
...धारण करने वाली 'पुरन्धि' नारी की कामना चिरन्तन मानव की 'पुरन्धि-
...र्योषा जायताम्' से अभिव्यक्त हुई है।

इसप्रकार राष्ट्र ने प्रायः सभी प्रधान-प्रधान-कामनाओं का स्पष्टीकरण कर
...। 'निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधयः पच्य-
...न्ताम्' इत्यादि रूप से राष्ट्र-मानव ने अपनी योग-क्षेमानुगता वह अन्तिम कामना
...व्यक्त की, जो कि आज भारत-राष्ट्र की प्रथम-मुख्य, एवं अनन्य-कामना
...सिद्ध हो रही है। वर्तमान भारतराष्ट्र में यद्यपि राष्ट्र की वे कामनाएँ सुस्पष्ट-

गोवंश की सत्प्रजता सबल–सौम्य–वृषभवंश पर ही अवलम्बित है । विशिष्ट नेष्टि के प्रमुख वृषभ ही विशिष्ट नेष्टि के गोवंश के उत्पादक प्रमाणित होते हैं, एवं सबल–भारवाही वृषभ ही कृषिकर्म्म के उत्पादक प्रमाणित होते हैं । वत्सर्द्र-दुधारी गायों के साथ साथ कृषिकर्म्म के अनन्य सम्पादक व्यापक–भारवाही अनड्वान् और विशिष्ट गोवंश-परम्परा के संरक्षक वृषभ, अर्थात् अश्वतोर सहित (समन्वित) सायण्ड (साँड), यह त्रिविध वर्ग भी राष्ट्रसमृद्धि के लिए अनिवार्य्यरूप से अपेक्षित है । कृषिकर्म्म में क्योंकि प्रधानरूप से अनड्वान् (बैल) ही अपेक्षित है, अतः तदपेक्षया 'वोढाऽनड्वान' रूप से यही कामना अभिव्यक्त हुई है, जो 'दोग्ध्री-धेनुः' से वृषभवंश (सायण्डवंश) की भी संग्राहिका प्रमाणित हो रही है ।

कृषि से समुत्पन्न अन्नसम्पत्ति का वाणिज्य के द्वारा इतस्ततः विनिमय करने में जैसे भारवाही अनड्वानों का * उपयोग हुआ करता है, एवमेव विदूरस्थ प्रान्तों के लिए 'अश्व' भी प्रधानरूप से उपयोगी माना गया है । इसी कामना के लिए 'आशुः सप्तिः' यह कामना अभिव्यक्त हुई है ‡ । 'दोग्ध्री धेनु' इसे 'कृषिसंरक्षणी' माना गया, 'वोढाऽनड्वान' से गोवंशसंरक्षण' माना गया

---

*—भारतीय वाणिज्य-विनिमय-पद्धति में भारवाही बैलों का माध्यम प्रसिद्ध है । इस वाणिज्य कर्म्म के सूत्रधार सार्थवाह हजारों बैलों के द्वारा निश्चित पथों के माध्यम से वस्तुओं का विनिमय करते रहते थे अतीत भारत में । अनड्वान् का लौकिकरूप ही बैल है, जो आगे जाकर क्रमिकभाव से–'बालद' नामसे प्रसिद्ध हो गया है । आज भी परिचितरूप से राजस्थान की सुप्रसिद्ध 'बिण-जारा' जाति (जो सम्भवतः–'पणि' का ही अपभ्रंश है–जो कि 'पणि' शब्द ही आगे जाकर 'वणिक्' रूप में परिणत होगया है, तत्सम्बन्ध से ही जो व्यवसाय वाणिज्यकर्म्म नाम से प्रसिद्ध होगया है) वर्त्तमान बैलों पर वस्तुविनिमय करती रहती है ।

‡—आशुः सप्तिः–का विशेष अर्थसमन्वय 'श्वेताश्वत्थ-निबन्ध' में ही द्रष्टव्य है ।

ध्यासति ' से 'वाणिज्यसंरक्षण' माना गया। इन तीनों के द्वारा
र म पूर्ण संरक्षण अभिव्यक्त हुआ राष्ट्रमानव की कामना से।

न 'सुसम्पत्ति' का प्रश्न भारतीय प्रजा के सम्मुख उपस्थित हुआ। प्रतीच्य
मी) संस्कृति-सभ्यता-आदर्श-शिक्षाप्रणाली (पद्धति)-शिक्षाविषय (पाठ्य-
आदि के माध्यम को प्रधान मानने वाले वर्तमान युग के भूतशिक्षाप्रधान-
पक्षों-विद्यालयों में प्रतीच्य शिक्षा-दीक्षा-द्वारा शिक्षित-दीक्षित बन कर
(भारतीय) शिक्षा, तन्मूला संस्कृति-सभ्यता, तन्मूलक आदर्श तन्मूला
व आचार-व्यवहार-मर्यादा-आदि-के प्रति आत्मविस्मरण से तिरस्कार-
करण करते हुए, प्रतीच्य-सभ्यता-संस्कृति-आदर्श-तन्मूला वेशभूषा-
स्य-उच्छृङ्खलता-आदि को प्रोत्साहन प्रदान करते हुए, सर्वोपरि एतद्विधा
। के माध्यम से सहजसिद्ध-प्राकृतिक-कौटुम्बिक-उत्तरदायित्व की ओर से
ऽ बनाए रखते हुए 'आधुनिकनारी' का वैभव जो कुछ स्वरूप आज
इस में समुपस्थित किया जारहा है क्या तथाविध नारीसमाज ही
का राष्ट्रीय-मानवप्रजा के सर्जन में समर्थ बन सकता है ?, नेति होवाच।
पर्योष-आयताम्' यही इस सम्बन्ध में वेद के उद्गार हैं। भारत राष्ट्र
रन्धि' नारी-(जिसका अर्थ है पुर को-कुटुम्ब को-धारण करने वाली) ही
त है। अपनी सन्तति-पति-सास-श्वशुर-देवर-सम्बन्धिवर्ग-सम्बन्ध नाना-
र्य राष्ट्रीय (लौकिक-पारलौकिक)-कामनाएँ उसकी सहयोगिनी ही पुर'
रण करने वाली 'पुरन्धि नारी की कामना चिरन्तन मानव की 'पुरन्धि-
आयताम्' से अभिव्यक्त हुई है।

इसप्रकार राष्ट्र ने प्रायः सभी प्रधान-प्रधान-कामनाओं का स्पष्टीकरण कर
। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधयः पच्य-
इत्यादि रूप से राष्ट्र-मानव ने अपनी योग क्षेमानुगता वह अन्तिम कामना
मक की थी कि आज भारत-राष्ट्र की प्रथम-मुख्य, एवं अनन्य-कामना
उत हो रही है। प्राचीन भारतवर्ष में, जबकि राष्ट्र की वे कामनाएँ मुख्य-

गोवंश की अक्षुण्णता उक्ष-ऋषभ-वृषभवंश पर ही अवलम्बित है। विशिष्ट श्रेणि के सुपुष्ट वृषभ ही विशिष्ट श्रेणि के गोवंश के उत्पादक प्रमाणित होते हैं एवं उक्ष-भारवाही वृषभ ही कृषिकर्म्म के सहायक प्रमाणित होते हैं। वत्सतर-कुमारी गायों के साथ साथ कृषिकर्म्म के अनन्य सम्पादक उक्षा-भारवाही अनड्वान् और विशिष्ट गोवंश-परम्परा के संरक्षक वृषभ, अर्थात् वत्सतरों-सहित (समन्वित) साण्ड (सांड) यह त्रिविध वर्ग भी राष्ट्रसमृद्धि के लिए अनिवार्य्यरूप से अपेक्षित है। कृषिकर्म्म में क्योंकि प्रधानरूप से अनड्वान् (बैल) ही अपेक्षित है अतः तदपेक्षया 'वोढाऽनड्वान' रूप से यही कामना अभिव्यक्त हुई है जो 'दोग्ध्री-धेनु' से वृषभवंश (साण्डवंश) की भी संग्राहिका प्रमाणित हो रही है।

कृषि से समुत्पन्न अन्नसम्पत्ति का वाणिज्य के द्वारा इतस्ततः विनिमय करने में जैसे भारवाही अनड्वानों का * उपयोग हुआ करता है, एवमेव सुदूरस्थ प्रान्तों के लिए 'अश्व' भी प्रधानरूप से उपयोगी माना गया है। इसी कामना के लिए 'आशुः सप्तिः' यह कामना अभिव्यक्त हुई है ÷। 'दोग्ध्री धेनु' इसे 'कृषिसंरक्षण' माना गया 'वोढाऽनड्वान' से गोवंशसंरक्षण माना गया

---

*—भारतीय वाणिज्य-विनिमय-पद्धति में भारवाही बैलों का माध्यम सुप्रसिद्ध है। इस वाणिज्य कर्म्म के सूत्रधार सार्थवाह हजारों बैलों के द्वारा निर्दिष्ट पथों के माध्यम से वस्तुओं का विनिमय करते रहते थे अतीत भारत में। जन-समाज का लौकिकरूप ही बैल है जो आगे जाकर कर्मविभाग में—'बालद' नाम से प्रसिद्ध हो गया है। आज भी परिस्थितिरूप से राजस्थान की सुप्रसिद्धा 'बिनजारा' जाति (जो सम्भवतः—'पणि' का ही अपभ्रंश है—जो कि 'पणि' शब्द आगे जाकर 'वणिक्' रूप में परिणत होगया है, तत्सम्बन्ध से ही जो व्यापार वाणिज्यकर्म्म नाम से प्रसिद्ध होगया है) अर्थक्रम बैलों पर वस्तुविनिमय करती रहती है।

÷—'आशुः सप्तिः'—का विशेष अर्थसमन्वय 'राष्ट्रप्राप्ति-निबन्ध' में। द्रष्टव्य है।

गोवंश की सुरक्षा सबल-सौम्य-वृषभवंश पर ही अवलम्बित है। विशिष्ट श्रेणि के पुष्ट वृषभ ही विशिष्ट श्रेणि के गोवंश का सम्यक् प्रमाणित होते हैं एवं सबल-भारवाही वृषभ ही कृषिकर्म के सहायक प्रमाणित होते हैं। तात्पर्य-दुधारी गायों के साथ साथ कृषिकर्म के अनन्य सम्पादक सहायक-भारवाही अनड्वान् और विशिष्ट गोवंश-परम्परा के संरक्षक वृषभ अर्थात् बछड़ों सहित (समन्वित) सांड (सांड) यह त्रिविध वर्ग भी राष्ट्रभूमि के लिए अनिवार्यरूप से अपेक्षित है। कृषिकर्म में क्योंकि प्रधानरूप से अनड्वान् (बैल) ही अपेक्षित है अतः तदपेक्षया 'वोढाऽनड्वान्' रूप से यही कामना अभिव्यक्त हुई है जो 'दोग्ध्री-धेनुः' से वृषभवंश (सांडवंश) की भी संरक्षिका प्रमाणित हो रही है।

कृषि से समुत्पन्न अन्नसम्पत्ति का वाणिज्य के द्वारा इतस्ततः विनिमय करने में जैसे भारवाही अनड्वानों का * उपयोग हुआ करता है एवमेव विदूरस्थ प्रान्तों के लिए 'अश्व' भी प्रधानरूप से उपयोगी माना गया है। इसी कामना के लिए 'आशुः सप्तिः' यह कामना अभिव्यक्त हुई है ≐। 'दोग्ध्री धेनुः' इसे 'कृषिसंरक्षण' माना गया 'वोढाऽनड्वान्' से गोवंशसंरक्षण माना गया

---

*—भारतीय वाणिज्य-विनिमय-पद्धति में भारवाही बैलों का माध्यम प्रसिद्ध है। इस वाणिज्य कर्म के व्यापार सार्थवाह हजारों बैलों के द्वारा निश्चित पथों के माध्यम से वस्तुओं का विनिमय करते रहते थे अतीत भारत में। अनड्वान का लौकिकरूप ही बैल है जो आगे जाकर लोकभाषा में—'बालद' नाम से प्रसिद्ध हो गया है। आज भी परिस्थितिवश से राजस्थान की सुप्रसिद्धा 'विण-जारा' जाति (जो सम्भवतः—'पणि' का ही अपभ्रंश है—जो कि 'पणि' शब्द से आगे जाकर 'वणिक्' रूप में परिणत होगया है तत्सम्बन्ध से ही जो व्यवसाय वाणिज्यकर्म नाम से प्रसिद्ध होगया है) परम्परा शैली पर वस्तुविनिमय करती रहती है।

≐—'आशुः सप्तिः'—का विशेष अर्थसमन्वय 'श्वेतकाम्बि-निबन्ध' में ही द्रष्टव्य है।

-ग्रहिताः संविभक्तास्च मृदव-सत्यवादिनः ।
ब्राह्मणा मे स्वकर्म्मस्था -मामकान्तरमाविशः ।।१।।
न याचन्ति, प्रयच्छन्ति-सत्यधर्म्मविशारदा ।
नाध्यापयन्त्यधीयन्ते-यजन्ते-याजयन्ति न ।।
ब्राह्मणान् परिरक्षन्ति, संग्रामेष्वपलायिनः ।
क्षत्रिया मे स्वकर्म्मस्था -मामकान्तरमाविश ।।१।।
कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य-मुपजीव्यन्त्यमायया ।
अप्रमत्ता -क्रियावन्तः-सुव्रता -सत्यवादिनः ।।
संविभाग-दमं शौचं-सौहृदं च व्यपाश्रिताः ।
मम वैश्या स्वकर्म्मस्थाः-मामकान्तरमाविशः ।।१।।
त्रीन् वर्णानुपजीवन्ति, यथावदनुसूयकाः ।
मम शूद्राः स्वकर्म्मस्थाः-मामकान्तरमाविशः ।।१।।
कृपणा-ऽनाथ-वृद्धानां, दुर्बला-ऽतुर-योषिताम् ।
संविभक्तास्मि सर्वेषां-मामकान्तरमाविशः ।।१।।
कुल-देशादि-धर्म्माणां प्रथितानां यथाविधि ।
अव्युच्छेत्तास्मि सर्वेषां-मामकान्तरमाविश ।।१।।
तपस्विनो मे विषये पूजिताः परिपालिताः ।
संविभक्ताश्च सत्कृत्य-मामकान्तरमाविशः ।।१।।
नासंविभज्य भोक्तास्मि, नाविशामि परस्त्रियम् ।
स्वतन्त्रो जातु न क्रीडे-मामकान्तरमाविशः ।।१।।
नाब्रह्मचारी भिक्षावान्, भिक्षुर्वा ब्रह्मचर्य्यवान् ।
अनृत्विजाहुतं नास्ति, मामकान्तरमाविश ।।१।।

रिपत थी, क्या स्थिति थी ?, इस सम्बन्ध में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण, दर्श आख्यान महाभारत में उपवर्णित है। उसका भी संस्मरण यहाँ अपेक्षित किया जाता है।

इतिवृत्त (आख्यानात्मक इतिहास) पुराणपुरुष भगवान् व्यास की यश सम्पादित है। सुनते हैं-एकबार कर्त्तव्यकर्मनिष्ठामिका धर्मनिष्ठा के परीक्षण कामना से कैकय-देशाधिपति महाराज अश्वपति के शरीर में ब्रह्मराक्षस-प्राण प्रविष्ट होगया *। इस भूतावेश से अश्वपति व्यग्र हो गये, राक्षस से कहने लगे कि—

राजोवाच—

१—न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्य्यो, न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नायज्वा-मामकान्तरमाविश ॥१॥
२—न च मे ब्राह्मणोऽविद्वान्, नाव्रती, नाप्यसोमपः।
नानाहिताग्नि, र्नायज्वा-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
३—नानाप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्यजन्ते विषये मम।
नाधीते नाव्रती कश्चित्-मामकान्तरमाविश ॥१॥
४—अधीयन्ते, ऽध्यापयन्ति, यजन्ते, याजयन्ति च।
ददाति, प्रतिगृह्णन्ति, षट्सु कर्मस्ववस्थिताः ॥

*-प्रेतविद्या से सम्बन्ध रखने वाले वायव्य 'प्रेतात्मा' का है आथर्वणप्रायात्मक प्रभाव है जिसमें परकायप्रवेश की क्षमता मानी है। वे-से। पाश्चात्य धर्मप्रवर्त्तकों की पत्नी में 'कथय अथर्वा मानव प्रेतात्मा हो सकता है एवं वह इस उपस्थित विद्वानों के अन्तर्यामी-पुरात्मा-आदि के मैं महत्त्वपूर्ण प्रश्न कर देता है जिन इस ईसाइयतवाद में आत्मा का विज्ञानग्रन्थ में स्पष्टीकरण कर दिया गया है। (देखिए

—पूजिता संविभक्ताश्च मृदवः सत्यवादिनः ।
ब्राह्मणा मे स्वकर्मस्था -मामकान्तरमाविशः ॥१॥
—न याचन्ति, प्रयच्छन्ति-सत्यधर्मविशारदाः ।
नाध्यापयन्त्यधीयन्त-यजन्ते-याजयन्ति न ॥
—ब्राह्मणान् परिरक्षन्ति, सङ्ग्रामेष्वपलायिनः ।
क्षत्रिया मे स्वकर्मस्थाः-मामकान्तरमाविश ॥१॥
—कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य-मुपजीव्यन्त्यमायया ।
अप्रमत्ताः -क्रियावन्तः-सुव्रताः -सत्यवादिनः ॥
—संविभागं-दमं शौचं-सौहृदं च व्यपाश्रिताः ।
मम वैश्याः स्वकर्मस्थाः-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
—त्रीन् वर्णानुपजीवन्ति, यथावदनुसूयकाः ।
मम शूद्राः स्वकर्मस्थाः-मामकान्तरमाविश ॥१॥
—कृपणा-ऽनाथ-वृद्धानां, दुर्बला-ऽऽतुर-योषिताम् ।
संविभक्तास्मि सर्वेषां-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
—कुल-देशादि-धर्माणां प्रथितानां यथाविधि ।
अव्युच्छेत्तास्मि सर्वेषां-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
—तपस्विनो मे विषये पूजिताः परिपालिताः ।
संविभक्ताश्च सत्कृत्य-मामकान्तरमाविश ॥१॥
—नासंविभज्य भोक्तास्मि, नाविशामि परस्त्रियम् ।
स्वतन्त्रो जातु न क्रीडे-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
—नाब्रह्मचारी भिक्षावान्, भिक्षुर्वा ब्रह्मचर्यवान् ।
... ऋत्विग्हुतं नास्ति, मामकान्तरमाविशः ॥१॥

स्थित थी, क्या स्थिति थी ?, इस सम्बन्ध में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण, एवं आख्यान महाभारत में उपवर्णित है। उसका भी संस्मरण यहाँ उद्धृत किया जाता है।

इतिहास (आख्यानात्मक इतिहास) पुराणपुरुष भगवान् व्यास की से सम्बन्धित है। सुनते हैं एकबार वर्त्तमानकर्माभिज्ञात्मिका धर्मनिष्ठा के परीक्षण की कामना से केकय-देशाधिपति महाराज अश्वपति के शरीर में ब्रह्मराक्षस राक्षस-प्राण प्रविष्ट होगया *। इस भूतावेश से अश्वपति व्यग्र हो गये राक्षस से कहने लगे कि—

राजोवाच—

१–न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो, न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नायज्वा-मामकान्तरमाविशः ॥१॥

२–न च मे ब्राह्मणोऽविद्वान्, नाव्रती, नाप्यसोमपः।
नानाहिताग्नि, र्नायज्वा-मामकान्तरमाविशः ॥१॥

३–नानाप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्यजन्ते विषये मम।
नाधीते नाव्रती कश्चित्-मामकान्तरमाविशः ॥१॥

४–अधीयन्ते, ऽध्यापयन्ति, यजन्ते, याजयन्ति च।
ददति, प्रतिगृह्णन्ति, षट्सु कर्मस्ववस्थिताः ॥

---

*–प्रेतविद्या से सम्बन्ध रखने वाले व्यापक 'ईसाउज्मा' का ही अन्यतम प्रेतात्मा है जिसमें परकायप्रवेश की क्षमता मानी है वेद में। पातञ्जल काप्यमहर्षि की पत्नी में 'कबन्ध आथर्वण' नामक प्रेतात्म हो गया है एवं वह उस उपस्थित विद्वानों से अन्तर्यामी–सूत्रात्मा–आदि के में रहस्यपूर्ण प्रश्न कर बैठता है जिन इस देवजातीय प्रेतात्मा का विज्ञानभाष्य में स्पष्टीकरण कर दिया गया है। (देखिए

पृथिव्या संविभक्तारश्च मृदव-सत्यवादिन ।
क्षत्रिया मे स्वकर्मस्था -मामकान्तरमाविश ॥१॥
न याचन्ति, प्रयच्छन्ति-सत्यधर्मविशारदा ।
नाध्यापयन्त्यधीयन्ते-यजन्ते-याजयन्ति न ॥
ब्राह्मणान् परिरक्षन्ति, संग्रामेष्वपलायिन ।
क्षत्रिया मे स्वकर्मस्था -मामकान्तरमाविश ॥१॥
कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य-मुपजीव्यन्त्यमायया ।
अप्रमत्ता -क्रियावन्त -सुव्रता -सत्यवादिनः ॥
संविभागं-दमं-शौच-सौहृदं च व्यपाश्रिता ।
मम वैश्या स्वकर्मस्था -मामकान्तरमाविशः ॥१॥
त्रीन् वर्णाननुपजीवन्ति, यथावदनुसूयका ।
मम शूद्रा स्वकर्मस्थाः-मामकान्तरमाविश ॥१॥
कृपणा-ऽनाथ-वृद्धानां, दुर्बला-ऽतुर-योषिताम् ।
संविभक्तास्मि सर्वेषां-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
कुल-देशादि-धर्माणां प्रथितानां यथाविधि ।
अव्युच्छेत्तास्मि सर्वेषां-मामकान्तरमाविश ॥१॥
तपस्विनो मे विषये पूजिता परिपालिताः ।
संविभक्ताश्च सत्कृत्य-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
नासंविभज्य भोक्तास्मि, नाविशामि परस्त्रियम् ।
स्वतन्त्रो जातु न क्रीडे-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
नाब्रह्मचारी भिक्षावान्, भिक्षुर्वा ब्रह्मचर्यवान् ।
अनृत्विजाहुतं नास्ति, मामकान्तरमाविश ॥१॥

गोऽभ्रता संविभक्तारश्च मृदवः सत्यवादिनः ।
ब्राह्मणा मे स्वकर्म्मस्था -मामकान्तरमाविशः ॥१॥
न याचन्ति, प्रयच्छन्ति-सत्यधर्म्मविशारदाः ।
नाध्यापयन्त्यधीयन्ते-यजन्ते-याजयन्ति न ॥
ब्राह्मणान् परिरक्षन्ति, सग्रामेष्वपलायिनः ।
क्षत्रिया मे स्वकर्म्मस्था -मामकान्तरमाविश ॥१॥
कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य-मुपजीव्यन्त्यमायया ।
अप्रमत्ता -क्रियावन्तः-सुव्रता -सत्यवादिनः ॥
संविभागं-दमं-शौच-सौहृदं च व्यपाश्रिताः ।
मम वैश्याः स्वकर्म्मस्था-मामकान्तरमाविश ॥१॥
त्रीन् वर्णाननुपजीवन्ति, यथावदनुसूयका ।
मम शूद्रा स्वकर्म्मस्थाः-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
कृपणा-ऽनाथ-वृद्धानां, दुर्बला ऽतुर-योषिताम् ।
संविभक्तास्मि सर्वेषां-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
कुल-देशादि-धर्म्माणां प्रथितानां यथाविधि ।
अव्युच्छेत्तास्मि सर्वेषां-मामकान्तरमाविश ॥१॥
तपस्विनो मे विषये पूजिता परिपालिताः ।
संविभक्ताश्च सत्कृत्य-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
नासंविभज्य भोक्तास्मि, नाविशामि परस्त्रियम् ।
स्वतन्त्रो जातु न क्रीडे-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
नाब्रह्मचारी भिक्षावान्, भिक्षुर्वा ब्रह्मचर्य्यवान् ।
अनृत्विगाहुतं नास्ति, मामकान्तरमाविशः ॥१॥

स्थित थी, क्या स्थिति थी ?, इस सम्बन्ध में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण, ए[illegible] आख्यान महाभारत में उपवर्णित है । उसका भी संस्मरण यहाँ [illegible] किया जाता है ।

इतिवृत्त (आख्यानात्मक इतिहास) पुराणपुरुष भगवान् व्यास जी [illegible] समन्वित है । सुनते हैं—एकबार कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठात्मिका धर्म्मनिष्ठा के [illegible] कामना से केकय-देशाधिपति महाराज अश्वपति के शरीर में [illegible] राक्षस-प्राण प्रविष्ट होगया * । इस भूतावेश से अश्वपति [illegible] हो [illegible] राक्षस से कहने लगे कि—

राजोवाच—

१—न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्य्यो, न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नायज्वा-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
२—न च मे ब्राह्मणोऽविद्वान्, नाव्रती, नाप्यसोमपः ।
नानाहिताग्नि, र्नायज्वा-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
३—नानाप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्यजन्ते विषये मम ।
नाधीते नाव्रती कश्चित्-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
४—अधीयन्ते, ऽध्यापयन्ति, यजन्ते, याजयन्ति च ।
ददति, प्रतिगृह्णन्ति, षट्सु कर्म्मस्ववस्थिताः ॥

---

*—प्रेतविद्या से सम्बन्ध रखने वाले आख्यान 'ईसाख्या' का [illegible] अथर्वात्मक प्रेतात्मा है जिसमें परकायप्रवेश की क्षमता मानी है वेद ने । पातञ्जल काप्यमहर्षि की पत्नी में 'कपाल-कपर्दी' नामक प्रेतात्म हो जाता है एवं वह उस उपस्थित विद्वानों से अन्तर्यामी-सूत्रात्मा-आदि के [illegible] में रहस्यपूर्ण प्रश्न कर बैठता है जिस का [illegible] प्रेतात्मा का विज्ञानभाष्य में स्पष्टीकरण कर दिया गया है । (देखिए शतपथब्राह्मण

-पृथिवी संविभक्तास्य मृदव सत्यवादिनः ।
ब्राह्मणा मे स्वकर्म्मस्था -मामकान्तरमाविशः ॥१॥
-न याचन्ति, प्रयच्छन्ति-सत्यधर्म्मविशारदाः ।
नाध्यापयन्त्यधीयन्ते-यजन्ते-याजयन्ति न ॥
-ब्राह्मणान् परिरक्षन्ति, संग्रामेष्वपलायिनः ।
क्षत्रिया मे स्वकर्म्मस्थाः-मामकान्तरमाविश ॥१॥
-कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य-मुपजीव्यन्त्यमायया ।
अप्रमत्ता -क्रियावन्त -सुव्रता -सत्यवादिनः ॥
-संविभाग-दम-शौच-सौहृदं च व्यपाश्रिताः ।
मम वैश्या स्वकर्म्मस्थाः-मामकान्तरमाविश ॥१॥
-त्रीन् वर्णानुपजीवन्ति, यथावदनुसूयका ।
मम शूद्राः स्वकर्म्मस्थाः-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
-कृपण-ऽनाथ-वृद्धानां, दुर्बला ऽतुर-योषिताम् ।
संविभक्तास्मि सर्वेषां-मामकान्तरमाविश ॥१॥
-कुल-देशादि-धर्म्माणां प्रथितानां यथाविधि ।
अव्युच्छेत्तास्मि सर्वेषां-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
-तपस्विनो मे विषये पूजिताः परिपालिता ।
संविभक्ताश्च सत्कृत्य-मामकान्तरमाविश ॥१॥
-नासंविभज्य भोक्तास्मि, नाविशामि परस्त्रियम् ।
स्वतन्त्रो जातु न क्रीडे-मामकान्तरमाविश ॥१॥
-नाब्रह्मचारी भिक्षावान्, भिक्षुर्वा ब्रह्मचर्य्यवान् ।
अनृत्विग्हुतं नास्ति, मामकान्तरमाविश ॥१॥

१६–नाविज्ञानाम्यहं वेधान्, न वृद्धान्, न तपस्विनः ।
राष्ट्रे स्वपिति जागर्मि-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
१७–आत्मविज्ञानसम्पन्न-स्तपस्वी सर्वधर्म्मवित् ।
स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान् मम पुरोहितः ॥
१८–दानेन विद्यामभिवाञ्छयामि—
सत्येनार्थं, ब्राह्मणानां च गुप्त्या ।
शुश्रूषया चापि गुरूनुपैमि—
न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः ॥
१९–न मे राष्ट्रे विधवा, ब्रह्मबन्धु—
र्नब्राह्मणः, कितवो नोत चोरः ।
अयाज्ययाजी, न च पापकर्म्मा—
न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः ॥
२०–न मे शस्त्रैरनिर्भिन्न गात्रे द्व्यङ्गुलमन्तरम् ।
धर्म्मार्थं युध्यमानस्य-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
२१–गो-ब्राह्मणेभ्यो, यज्ञेभ्यो-नित्यं स्वस्त्ययनं मम ।
आशासते जना राष्ट्रे—मामकान्तरमाविशः ॥१॥

राक्षस उवाच—

२२–यस्मात्-सर्वास्ववस्थासु धर्म्ममेवान्ववेक्षसे ।
तस्मात् प्राप्नुहि कैकेय ! गृहं/-स्वस्ति ! व्रजाम्यहम् ॥
२३–येषां गो-ब्राह्मणं रक्ष्यं, प्रजा रक्ष्यास्तु कैकय ! ।
न रक्षोभ्यो भयं तेषां, कुत एव तु पावकात् ॥

येषां पुरोगमा विप्रा, येषां ब्रह्मपरं पदम् ।
भविविप्रियास्तथा पौरास्ते वै स्वर्गजितो नृपाः ॥

भीष्म उवाच—

तस्माद्-द्विजातीन् रक्षेत, ते हि रक्षन्ति रक्षिता ।
आशीरेषां भवेद् राजन् ! राज्ञां सम्यक्-प्रवर्तताम् ॥
तस्माद्-राज्ञा विशेषेण विकर्मस्था द्विजातयः ।
नियम्या-संविभज्याश्च तदनुग्रहकारणात् ॥

हे राक्षस ! मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है । कोई कदर्य—अर्थात्
र्गों से भारसन्निक स्तोप-पूर्वक धनराशि का संग्रह करने वाला धरमलीमा
न-(कंजूस) नहीं है । कोई मद्यप—अर्थात् सुरापी (शराबी) नहीं है ।
अनाहिताग्नि नहीं है । कोई अयज्वा नहीं है । जब कि मलीमस—भावों से
रखने वाले राक्षसादि मलीमस—प्राणी के अनुरूप स्तेनकर्म—कदर्यादि
भी मलीमस—भाव मेरे राज्य में नहीं हैं तो उस दशा में हे राक्षस ! आप
आचार को निमित्त बना कर मुझ में प्रविष्ट हुए ? ॥१॥

हे राक्षस ! जब कि मेरे राज्य में कोई भी ब्राह्मण अविद्वान् अर्थात्
या-शून्य नहीं है कोई भी ब्राह्मण अव्रती नहीं है कोई भी ब्राह्मण
यज्ञ नहीं है कोई भी ब्राह्मण अनाहिताग्नि नहीं है कोई भी ब्राह्मण
प नहीं है । निष्कर्षतः जब कि मेरे राष्ट्र का अन्तर्वर्ती ब्राह्मणवर्ग
धर्मरत है जिस की कि आपत्काल में आतुरता का प्रवेश असम्भव है
सी स्थिति में हे राक्षस ! तुमने मुझ में प्रवेश करने का कैसे साहस
ा ? ॥२॥

हे राक्षस ! मेरे राष्ट्र के अन्तर्वर्ती ब्राह्मण वेदशास्त्र का स्वयं अध्ययन
और कराते रहते हैं । वेदतत्त्वविद् यथाशक्य हैं वैदिक कर्ममार्ग में

१६–नाविजानाम्यहं वेद्यान्, न शूद्रान्, न तपस्विनः ।
राष्ट्रे स्वपिति वागग्नि-मामकान्तरमाविश ॥१॥

१७–आत्मविज्ञानसम्पन्न-स्तपस्वी सर्वधर्म्मवित् ।
स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान् मम पुरोहितः ॥

१८–दानेन विद्यामभिवाञ्छयामि—
सत्येनार्थं, मामकानां च गुप्त्या ।
शुश्रूषया चापि गुरूनुपैमि—
न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः ॥

१९–न मे राष्ट्रे विधवा, ब्रह्मबन्धु—
र्नाब्राह्मणः, किलवो नोत चोरः ।
अयाज्ययाजी, न च पापकर्म्मा—
न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः ॥

२०–न मे शस्त्रैरनिर्भिन्नं गात्रे द्व्यङ्गुलमन्तरम् ।
धर्म्मार्थं युध्यमानस्य-मामकान्तरमाविशः ॥१॥

२१–गो-ब्राह्मणेभ्यो, यज्ञेभ्यो-नित्यं स्वस्त्ययनं मम ।
आशासते जना राष्ट्रे–मामकान्तरमाविशः ॥१॥

राक्षस उवाच—

२२–यस्मात्सर्वास्ववस्थासु धर्म्ममेवान्ववेक्षसे ।
तस्मात् प्राप्नुहि कैकेय ! गृहं-स्वस्ति ! व्रजाम्यहम् ॥

२३–येषां गो-ब्राह्मणं रक्ष्यं, प्रजा रक्ष्याश्च कैकय ! ।
न रक्षोभ्यो भयं तेषां, कुत एव तु मानवात् ॥

येषां पुरोगमा विप्रा, येषां ब्रह्मपरं बलम् ।
अतिथिप्रियास्तथा पौरास्ते वै स्वर्गजितो नृपा ॥

भीष्म उवाच—

तस्माद् द्विजातीन् रक्षेत, ते हि रक्षन्ति रक्षिताः ।
आशीरेषां भवेद् राजन् ! राज्ञां सम्यक्-प्रवर्त्तताम् ॥
तस्माद्-राज्ञा विशेषेण विकर्म्मस्था द्विजातयः ।
नियम्या संविभज्याश्च तदनुग्रहकारणात् ॥

राजन ! मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है । कोई कदर्य्य–अर्थात् र्य है आत्यन्तिक क्लेश–पूर्वक धनराशि का संग्रह करने वाला चरमसीमा ण–(कंजूस) नहीं है । कोई मद्यप–अर्थात् सुरापी (शराबी) नहीं है । अनाहिताग्नि नहीं है । कोई अयज्वा नहीं है । जब कि मलीमस–भावों से गने वाले राजन्यादि मलीमस-प्राणी के अनुरूप स्तेनकर्म्म–कदर्य्यादि मलीमस–भाव मेरे राज्य में नहीं हैं, तो उस दशा में हे राजन ! आप वार को निमित्त बना कर मुझ में प्रविष्ट हुए ! ॥१॥

राजन ! जब कि मेरे राज्य में कोई भी ब्राह्मण अविद्वान् अर्थात् –ज्ञ नहीं है, कोई भी ब्राह्मण अव्रती नहीं है कोई भी ब्राह्मण नहीं है कोई भी ब्राह्मण अनाहिताग्नि नहीं है कोई भी ब्राह्मण नहीं है । निष्कर्षतः जब कि मेरे राष्ट्र का प्रजावर्गवर्ती ब्राह्मणवर्ग रक्षक है जिस की कि व्यापकता में आसुरभाव का प्रवेश असम्भव है स्थिति में हे राजन ! तुम्हें मुझ में प्रवेश करने का कैसे साहस ! ॥२॥

राजन ! मेरे राष्ट्र के प्रजावर्गवर्ती ब्राह्मण वेदशास्त्र का स्वाध्याय अध्ययन र करते रहते हैं । वेदतत्त्ववित् यज्ञानुष्ठानों से वैदिक कर्म्ममार्ग में

१६—नाविजानाम्यहं वेयान्, न शूद्रान्, न तपस्विनः ।
राष्ट्रे स्वपिति आगम्मि-मामकान्तरमाविशः ॥१॥

१७—आत्मविज्ञानसम्पन्न-स्तपस्वी-सर्वधर्मवित् ।
स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान् मम पुरोहित ॥

१८—दानेन विद्यामभिवाञ्छयामि—
सत्यनार्थं, ब्राह्मणानां च गुप्त्या ।
शुश्रूषया चापि गुरूनुपैमि—
न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः ॥

१९—न मे राष्ट्रे विधवा, ब्रह्मबन्धु—
र्नब्राह्मण, कितवो नोत चोरः ।
अयाज्ययाजी, न च पापकर्मा—
न मे भयं विद्यत राक्षसेभ्यः ॥

२०—न मे शस्त्रैरनिर्भिन्नं गात्रे द्व्यङ्गुलमन्तरम् ।
धर्मार्थ युध्यमानस्य-मामकान्तरमाविश ॥१॥

२१—गो-ब्राह्मणेभ्यो, यज्ञेभ्यो-नित्यं स्वस्त्ययनं मम ।
आशासते जना राष्ट्रे—मामकान्तरमाविश ॥१॥

राक्षस उवाच—

२२—यस्मात्-सर्वास्ववस्थासु धर्ममेवान्ववेक्षसे ।
तस्मात् प्राप्नुहि कैकेय ! गृहं, स्वस्ति ! ममाप्यहम् ॥

२३—येषां गोब्राह्मणं रक्ष्यं, प्रजा रक्ष्याश्च कैकय ! ।
न रक्षोभ्यो भयं तेषां, कुत एव तु मानुषात् ॥

१६—नाविजानाम्यहं वेदान्, न शूद्रान्, न तपस्विनः ।
राष्ट्रे स्वपिति जागर्मि-मामकान्तरमाविश ॥१॥

१७—आत्मविज्ञानसम्पन्न-स्तपस्वी सर्वधर्मवित् ।
स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान् मम पुरोहितः ॥

१८—दानेन विद्यामभिवाञ्छयामि—
सत्येनार्थं, ब्राह्मणानां च गुप्त्या ।
शुश्रूषया चापि गुरूनुपैमि—
न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः ॥

१९—न मे राष्ट्रे विधवा, ब्रह्मबन्धुः—
नब्राह्मणः, कितवो, नोत चोरः ।
अयाज्ययाजी, न च पापकर्म्मा—
न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः ॥

२०—न मे शस्त्रैरनिर्भिन्नं गात्रे द्व्यङ्गुलमन्तरम् ।
धर्मार्थं युध्यमानस्य-मामकान्तरमाविश ॥१॥

२१—गो-ब्राह्मणेभ्यो, यज्ञेभ्यो-नित्यं स्वस्त्ययनं मम ।
आशासते जना राष्ट्रे—मामकान्तरमाविश ॥१॥

राक्षस उवाच—

२२—यस्मात्-सर्वास्ववस्थासु धर्म्ममेवान्ववेक्षसे ।
तस्मात् प्राप्नुहि कैकेय ! गृहं-स्वस्ति ! व्रजाम्यहम् ॥

२३—येषां गो-ब्राह्मणं रक्ष्यं, प्रजा रक्ष्यास्तु कैकय ! ।
न रक्षोभ्यो भयं तेषां, कुत एव तु मानुषात् ।

येषां पुरोगमा विप्रा, येषां ब्रह्मपरं बलम् ।
प्रतिमिमियास्तथा पौरास्ते वै स्वर्गजितो नृपाः ॥

भीष्म उवाच—

तस्माद्-द्विजातीन् रक्षेत, ते हि रक्षन्ति रक्षिताः ।
आशीरेषां भवेद् राजन् ! राष्ट्रं सम्यक्-प्रवर्धताम् ॥
तस्माद्-राज्ञा विशेषेण विकर्मस्था द्विजातयः ।
नियम्याः-संविभज्याश्च तदनुग्रहकारणात् ॥

राजन् ! मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है । कोई कदर्य—अर्थात्
र्य से आत्यन्तिक कठोरता-पूर्वक धनराशि का संग्रह करने वाला कृपणसीमा
ण—(कंजूस) नहीं है । कोई मद्यप—अर्थात् शराबी (शराबी) नहीं है ।
नाहिताग्नि नहीं है । कोई अविद्वान् नहीं है । जब कि मलीमस—भावों से
रखने वाले राक्षसादि मलीमस—भावों के अनुरूप स्तेनकर्म-कदर्यादि
ही मलीमस-भाव मेरे राज्य में नहीं हैं, तो उस दशा में हे राक्षस ! आप
आधार को निमित्त बना कर मुझ में प्रविष्ट हुए ? ॥१॥

राक्षस ! जब कि मेरे राज्य में कोई भी ब्राह्मण अविद्वान् अर्थात्
या रहित नहीं है, कोई भी ब्राह्मण अव्रती नहीं है कोई भी ब्राह्मण
य नहीं है, कोई भी ब्राह्मण अनाहिताग्नि नहीं है कोई भी ब्राह्मण
नहीं है । निष्कर्षतः जब कि मेरे राष्ट्र का ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मणवर्ग
सम्पन्न है जिस की कि जागरूकता में आसुरभाव का प्रवेश असम्भव है
सी स्थिति में हे राक्षस ! तुमने मुझ में प्रवेश करने का कैसे साहस
या ? ॥२॥

हे राक्षस ! मेरे राष्ट्र के ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण वेदशास्त्र का स्वयं अध्ययन
और कराते रहते हैं । वेदतत्त्वविद् ब्रह्मनिष्ठों से वैदिक कर्ममार्ग में

१६—नाविज्ञानाम्यहं वेधान्, न शूरान्, न तपस्विनः ।
राष्ट्रे स्वपिति शार्गम्मि-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
१७—आत्मविज्ञानसम्पन्नस्तपस्वी सर्वधर्म्मवित् ।
स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान् मम पुरोहितः ॥
१८—दानेन विद्यामभिवाञ्छयामि—
सत्येनार्थं, ब्राह्मणानां च गुप्त्या ।
शुश्रूषया चापि गुरूनुपैमि—
न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः ॥
१९—न मे राष्ट्रे विधवा, ब्रह्मबन्धु—
र्नब्राह्मणः, कितवो नोत चोरः ।
अयाज्ययाजी, न च पापकर्म्मा—
न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः ॥
२०—न मे शस्त्रैरनिर्भिन्नं गात्रे द्व्यङ्गुलमन्तरम् ।
धर्म्मार्थं युध्यमानस्य-मामकान्तरमाविशः ॥१॥
२१—गो-ब्राह्मणेभ्यो, यज्ञेभ्यो-नित्यं स्वस्त्ययनं मम ।
आशासते जना राष्ट्रे—मामकान्तरमाविशः ॥१॥

राक्षस उवाच—

२२—यस्मात्सर्वास्ववस्थासु धर्म्ममेवान्ववेक्षसे ।
तस्मात् प्राप्नुहि कैकेय ! गृहं स्वस्ति ! व्रजाम्यहम् ॥
२३—येषां गो-ब्राह्मणा रक्ष्याः, प्रजा रक्ष्याश्च कैकय ! ।
न रक्षोभ्यो भयं तेषां, कुत एव तु पापकात् ॥ —

येषां पुरोगमा विप्रा, येषां ब्रह्मपरं बलम् ।
अतिथिप्रियास्तथा पौरास्ते वै स्वर्गजितो नृपा" ॥

भीष्म उवाच—

तस्माद्-द्विजातीन् रक्षेत, ते हि रक्षन्ति रक्षिताः ।
आशीरेषां भवेद् राजन् ! राज्ञां सम्यक्-प्रवर्त्तताम् ॥
तस्माद्-राज्ञा विशेषेण विकर्म्मस्था द्विजातयः ।
नियम्या -संविभज्याश्च तदनुग्रहकारणात् ॥

राघव ! मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है । कोई कदर्य-अर्थात् ने से मारवन्चित क्लेश-पूर्वक धनराशि का संग्रह करने वाला धनमलीमा स-(कंजूस) नहीं है । कोई मद्यप-अर्थात् सुरापी (शराबी) नहीं है । नाहिताग्नि नहीं है । कोई अविद्वान नहीं है । जब कि मलीमस-मार्गों से रहने वाले राजादि मलीमस-मार्गों के अनुरूप स्तेनकर्म्म-कदर्य्यादि मलीमस-भाव मेरे राज्य में नहीं हैं तो इस दशा में हे राघव ! आप भार को निमित्त बना कर मुझ में प्रविष्ट हुए ! ॥१॥

राघव ! जब कि मेरे राज्य में कोई भी ब्राह्मण अविद्वान् अर्थात् -शास्त्र नहीं है कोई भी ब्राह्मण अव्रती नहीं है कोई भी ब्राह्मण नहीं है कोई भी ब्राह्मण अनाहिताग्नि' नहीं है, कोई भी ब्राह्मण नहीं है। निष्कर्षतः जब कि मेरे राष्ट्र का प्रजावर्गस्थ ब्राह्मणवर्ग है जिस की कि व्यापकता में आसुरभाव का प्रवेश असम्भव है स्थिति में हे राघव ! तुम्हें मुझ में प्रवेश करने का कैसे साहस ! ॥२॥

राघव ! मेरे राष्ट्र के प्रजावर्गस्थ ब्राह्मण वेदशास्त्र का सतत अध्ययन और कराते रहते हैं। वेदतत्त्वसिद्ध कर्मानुबन्धों से वैदिक कर्म्ममार्ग में

इस मुल्क में क्यों, और कैसे प्रविष्ट हो गए ? । क्योंकि जिस राष्ट्र का शासकवर्ग धर्म-सम्मत पौरुष छोड़ बैठता है उसी राष्ट्र का ब्रह्मबल (ज्ञानबल) अरक्षित हो जाया करता है । एवं ब्रह्मबल के अरक्षित हो जाने से ही (उस राष्ट्र में) राक्षसों को प्रवेश करने का अवसर मिला करता है ॥७॥

हे राक्षस ! मेरे राष्ट्र के व्यवसायनिष्ठ मानव (वैश्य) छल-प्रपञ्च-कूट-तुला-परवञ्चकता-आदि से सम्बन्ध रखने वाली माया से (मायाचार से) स्वयं आपको सर्वथा (आत्मतुष्ट) दूर रखते हुए एकमात्र राष्ट्र के मंगल की अभिवृद्धि (समृद्धि) की कामना से ही स्व-कर्मोचित (वर्णधर्म-सम्मत) कृषि-गोरक्षा एवं वाणिज्य कर्मों में ही अनुरत बने रहते हैं । ऐसे स्वकर्मरत व्यवसायनिष्ठ-प्रमाद-आलस्य से सर्वथा दूर रहने वाले स्वकर्म-निष्ठ (वैश्य मानव) व्यक्तियों के विद्यमान रहते हुए हे राक्षस ! कैसे तुम मेरे राष्ट्र में प्रविष्ट हो गए ? ॥८॥

हे राक्षस ! इसके साथ साथ ही प्राप्त-सञ्चित अभिवृद्ध-अर्थ का यथायोग्य-विवेकपूर्वक विभाजन स्वयं (लोकैषणाप्रवर्द्धिका) अर्थैषणाओं के प्रति दमन धार्मिक शौचाचार का यथाविधि पालन सम्पूर्ण-भूतों (बहुमातृका पदार्थों) प्राणियों (चेतनयोनी) से सौहार्द आदि आदि लोकोत्तर मानवीय गुणों से जब कि मेरे राष्ट्र के व्यवसायनिष्ठ मानव (वैश्यवर्ग) व्यवस्थित हैं तो तुम मुल्क में क्यों और कैसे प्रविष्ट हो गए ? । क्योंकि व्यवसायनिष्ठ मानवसमाज (वैश्यवर्ग) के विकर्मरत बन जाने से जिस राष्ट्र का अर्थबल क्षीण हो जाता है उस राष्ट्र का शासक (क्षत्रिय) समाज भी साधन-शून्य बना हुआ रक्षाकर्म में निष्फल प्रमाणित हो जाता है । शासक के निष्फल-विक्रम बन जाने से ब्रह्मबल (ब्राह्मणवर्ग) भी अरक्षित हो जाता है । एवं तभी राक्षसों को राष्ट्र में प्रवेश करने का अवसर मिला करता है ॥९॥

हे राक्षस । पूर्वोपवर्णित स्व-स्व-कर्मों में धर्मपूर्वक सुनिष्ठित ज्ञानगोप्ता (ब्राह्मण) शासक (क्षत्रिय) एवं व्यवसायनिष्ठ (वैश्य) एवं इन तीनों विभागों के साथ परिशिष्ट कर्मों में (यथाव्यवस्थित ईर्ष्या-आदेशादि रहित हो कर) संलग्न

(स्वयं भी) प्रवृत्त रहते हैं, एवं (राष्ट्रीय क्षियादि प्रजा को भी) कराते रहते हैं। मख निमित्त दान देते हैं और लेते हैं। अपने इसी प्रकार वैदिक षट्कर्म्म के द्वारा मैं ब्राह्मणों का सदा सम्मान करता रहता हूँ।

सब ब्राह्मण अपने अपने नियत-विभक्त कर्मों में निष्ठापूर्वक व्यवस्थित प्रतिष्ठित हैं। वे ब्राह्मण अपनी ओर से सदा स्वनिष्ठा का अनुगमन करते इसप्रकार सम्पूर्ण दृष्टियों से राष्ट्र के ब्राह्मण जब स्वकर्मों में निष्ठापूर्वक हैं तो बतलाओ! तुम कैसे मुझ में प्रविष्ट हुए? । क्योंकि जिस राष्ट्र ब्राह्मण अपने वेदस्वाध्यायादि कर्त्तव्य कर्मों का परित्याग कर देते हैं, राष्ट्र का ब्रह्मबल अभिभूत हो जाता है। एवं राष्ट्रीय 'ब्रह्मबल' की क्षीण ही राष्ट्र में असुर-राक्षसों को प्रविष्ट होने का अवसर दे दिया है॥ १-४-६॥

हे राक्षस! तपोपबर्हित-स्वकर्म्मरत ब्राह्मणों के अभिमन्त्रण में वर्तमान करते हुए मेरे राष्ट्र के शासक (क्षत्रिय) कभी किसी से कोई याचना करते। अपितु सदा दूसरों की कामनाओं को पूर्ण करने के लिए ही प्रयत्न करते रहते हैं। ब्राह्मणों के द्वारा निर्दिष्ट वेदशास्त्र के आधार पर प्रतिष्ठित, ब्राह्मण के अनुगमन में मेरे राष्ट्र के शासक सर्वथा (लोक-राज-नीतियों के सञ्चालन में) विशारद (सर्वसमर्थ) हैं। वे शासक कभी भी दानादम्भ एवं ज्ञानदम्भ में आकर ब्राह्मणोचित अध्यापन-कर्म्म-उपदेशप्रदान के-अनुगामी नहीं बनते। किन्तु सदा स्वयं ज्ञानार्जन-स्वाध्याय में ही लगे रहते हैं। वे शासक कभी याचक नहीं बनते। अपितु ही ऋत्विजों के (ब्राह्मणों के) सहयोग से यज्ञानुष्ठान में प्रवृत्त रहते हैं॥५॥

हे राक्षस! स्वधर्म्म-विशारद, दान-स्वाध्याय यजन-शील वे शासक सावधान पूर्वक जब राष्ट्र के मूलस्तम्भरूप 'ब्रह्मवर्चस्' का संरक्षण कर रहे हैं, जब कि आक्रान्ता आततायी वर्ग के सम्मुख होने पर संग्राम पलायित होने का वे शासक कभी संकल्प भी नहीं करते। तो बस दया से

द्वारा यथाविधि सुव्यवस्थित बने रहते हैं ऐसे धर्मशील राष्ट्र में कभी राक्षस कदापि नहीं हुआ करते ॥१२॥

हे राक्षसराज ! अपने ब्रह्मचर्य, एवं गृहस्थ इन दोनों आश्रमों का यथाक्रम-यथाविधि-साङ्गोपाङ्ग अनुगमन कर तीसरे निवृत्तिप्रधान वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट हो जाने वाले अरण्यनिवासी-एकान्तनिष्ठ वैखानस तपस्वियों (संन्यासियों) का मैं सदा सम्मान करता रहता हूँ। न केवल वाचिक सम्मान ही अपितु उनकी एकान्तव्यवस्था को सुरक्षित रखता हुआ मैं उनकी शारीरिक योग-क्षेम-व्यवस्था में भी सहायक बना रहता हूँ। इसके अतिरिक्त समय समय पर उनका प्रमुख विशेष अवसरों पर उनकी प्रौढ़प्रज्ञा (पुराणप्रज्ञा) का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ उत्सवसमय में उन का विशेष सत्कार भी करता रहता हूँ। ऐसी स्थिति में राक्षसो ! तुम मुझ में क्यों और कैसे प्रविष्ट हुए ?। क्योंकि जिस राष्ट्र में ऐसे तपस्वी-वानप्रस्थी एवं संन्यासी निवास करते हैं जिस राष्ट्र को ऐसे लोकोत्तर लक्षण महापुरुषों का महानुग्रहयोग उपलब्ध होता रहता है उस राष्ट्र में राक्षसों का प्रवेश कदापि सम्भव नहीं ॥१३॥

हे राक्षस ! तुम्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि, अपने संचित कोश का तथा अन्यान्य भोग्य पदार्थों का स्वयं मैं ही भोक्ता नहीं हूँ। अपितु राष्ट्र में (योग्यता-एवं वर्णानुपात से) जिसे जितना जो भी कुछ पात्रानुसार अपेक्षित होता है उनमें (यथाक्रम-यथावश्यकता उतना) विभक्त कर जो अवशिष्ट रूप से (उच्छिष्ट रूप से) शेष बच रहता है अपने योग-क्षेम-मात्र के अनुरूप मैं उसी से अपनी जीवनयात्रा (मात्र) का निर्वाह करता हूँ धर्मतः (अभिलाषा में) परिणीता पत्नी के अतिरिक्त पर स्त्रियाँ मेरे लिए मातृवत् पूज्या हैं भगिनीवत्-मान्या हैं एवं कन्यावत् रक्षणीया हैं। मैं अपने मानस-विनोदात्मक क्रीड़ा क्षेत्रों में कभी एकान्तस्थल से उस प्रकार संलग्न नहीं होता, जिस एकान्तस्थल में अनेक मर्यादाओं-आचारों-तथा आदर्शों का उल्लङ्घन होता रहता है। अपितु मेरी मानस-विनोदात्मिका क्रीड़ाएँ सर्वथा प्रत्यक्ष में शिष्टजनों के सम्मुख सार्वजनिकरूप से शिष्टपूर्वक ही सम्पादित होती हैं जिन एकान्तिक क्रीड़ाओं में कभी अस्पृश्य-

रहने वाले मेरे राष्ट्र के अमजीवी (शरीरधर्मा शूद्र वर्ग) जब सदा सुव्यवस्थित बने हुए हैं तो तुम्हीं बताओ ! मेरे राष्ट्र में किस प्रकार राक्षस प्रवेश कर सकते हैं ? ॥१॥

हे राक्षस ! अधर्म्म-(कृपण)-धनिकसम्पन्न धन कृपणों को-जो कभी एकमात्र 'अर्थसंग्रहवृत्ति' के कारण स्वयं भी उत्पीड़ित रहते हैं, एवं जिन के पुत्र-पौत्र-दायादि (बन्धुवर्ग) भी उत्पीड़ित बने रहते हैं जिनके भरण-पोषण का कोई अभिभावक नहीं होता, वैसे असमर्थ-पौरुषशून्य-अनाथों को, जरा-जीर्ण शीर्ण वृद्धों को, दुर्बलों को आधि-व्याधि से पीड़ितों को एवं अवलामा नारियों को मैं अपने राष्ट्र में यथास्थान-यथाव्यवस्थित करता हुआ इन सब का उत्तरा-पित्त्व (निष्ठापूर्वक) वहन करता रहता हूँ । ऐसी स्थिति में बतलाओ ! तुम मुझ में क्यों और कैसे प्रविष्ट हुए ? । क्योंकि यह सिद्ध विषय है कि, जिस राष्ट्र में केवल अर्थसञ्चय-परायण अधर्म्म-कृपण-शासकों का साम्राज्य हो जाता है, अनाथ-वृद्ध दुर्बल-आतुर-तथा नारियों के संरक्षण की जिस राष्ट्र में कोई सुव्यवस्था नहीं होती, जिस राष्ट्र में अर्थ का स्वाभाविक विनिमय अवरुद्ध हो जाता है, अर्थ के अमुक परिगणित अधर्म्म-कृपणों (पूँजीपतियों) के कोष में ही समन्वित (संचित) हो जाने के कारण एवं शेष अनाथादि के संरक्षण के बिना अभाव विविध-आधि-व्याधियों-वर्णसंकर-प्रजाओं से उत्पीड़ित हो पड़ता है, फलस्वरूप राष्ट्र की सभी ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तियाँ शिथिल हो पड़ती हैं, और परिणाम स्वरूप उस संक्रमणकाल में राक्षसों को प्रवेश करने का अवसर मिल जाया करता है ॥११॥

हे राक्षस ! मैं मेरे राष्ट्र में सर्वथा जागरूक बना रहता हुआ-कुलधर्म्म-देशधर्म्म-एवं जाति-जानपद-धर्म्म आदि समस्त राष्ट्रीय धर्म्मों का यथाविधि अनुगमन करता रहता हूँ । मैं इन सभी धर्म्मों का वैध ही प्रहरी बना रहता हूँ जिससे कभी ये धर्म्म मेरे राष्ट्र से उच्छिन्न एवं अव्यवस्थित नहीं हो पाते । ऐसी स्थिति में बतलाओ ! तुम मुझ में क्यों, और कैसे प्रविष्ट हुए ? । क्योंकि प्रतीकरूप कुलादि धर्म्म जिस राष्ट्र में राष्ट्रव्यापी (शासक) के नियमन-

धी धर्मपरिणा मेरे मामने है। मेरे राष्ट्र में कभी इसप्रकार की मिथ्याहुति का प्रवेश नहीं है। मेरे राष्ट्र में कोई ब्राह्मण अदृत्विज (वेदकर्मशून्य) नहीं है। कोई त्रैवर्णिक अहुत (कर्महीन) नहीं है। ऐसी अवस्था में बतलाओ! तुम मुझ में क्यों, और कैसे प्रविष्ट हुए? ॥१५॥

हे राक्षस! मैं मेरे राष्ट्र के महाशील विद्वानों को, प्राज्ञानुभवपरायण वृद्धों को, एवं वानप्रस्थी तपस्वियों को कभी भी उपेक्षित नहीं मानता। राष्ट्र को मेरे बलवत् रहते किसी को कोई किसी प्रकार की चिन्ता-उद्विग्नता का अनुगमन नहीं करना पड़ता। ऐसी स्थिति में बतलाओ! तुम मुझ में क्यों और कैसे प्रविष्ट हुए?। क्योंकि जिस राष्ट्र में तत्त्वरहस्य-वेत्ता विद्वानों, अनुभव की साकार मूर्ति वृद्धों दम-शम-परायण-तपस्वियों एवं शुद्ध ज्ञान-निष्ठ संन्यासियों का साम्राज्य हो, वहाँ का राष्ट्रप्रहरी इन प्रजानों के (परामर्श के) बल पर सदा सावधान बना रहता हो वहाँ-उस राष्ट्रप्राकार में राक्षसों का प्रवेश सम्भव ही कैसे हो सकता है? ॥१६॥

हे राक्षसराज! स्वात्मस्वरूपबोध से भलीभांति परिचित शम-दम-परायण-सत्कर्म-रहस्यवेत्ता सम्पूर्ण राष्ट्र का वास्तविक अधिपति ऐसा बुद्धिमान् ब्राह्मण-मानवश्रेष्ठ जबकि मेरे राष्ट्र का पुरोहित (प्रधान मन्त्री) है तो बतलाओ! इस स्थिति में राष्ट्र में राक्षसों का प्रवेश कैसे सम्भव है? ॥ ७।

हे राक्षसश्रेष्ठ! मैं ज्ञानदक्षिणा के समर्पण-द्वारा ही आचार्यों विद्वानों से विद्या प्राप्त करने की कामना करता रहता हूँ। मैं सर्वथा ऋजु-पथ के द्वारा ही राष्ट्रीय अर्थ के संग्रह में प्रवृत्त रहता हूँ। मैं वेदतत्त्वनिष्ठ-सदाचारपरायण ब्राह्मणों की रक्षा से सदा सुरक्षित रहता हूँ। मैं सदा सेवा-शुश्रूषा से अपने गुरुजनों के मार्गदर्शन से समन्वित रहता हूँ। अतः तुम्हीं विचार करो! इन रक्षा-साधनों के विद्यमान रहते मुझे राक्षसों से क्या भय हो सकता है?! विश्वास करो राक्षसराज! मुझे स्वप्न में भी राक्षसों से भय नहीं है ॥१८॥

राक्षसराज! तुम्हें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि (धर्मनिष्ठा के व्यापक सदाचार के प्रभाव से) मेरे राष्ट्र में एक भी विधवा नहीं है। एक भी ब्राह्मण

ये धर्मनिष्ठ मेरे सामने है । मेरे राष्ट्र में कभी इसप्रकार की मिथ्याचारि का समावेश नहीं है । मेरे राष्ट्र में कोई ब्राह्मण अनाहिताग्नि (वेदकर्मशून्य) नहीं है । कोई वैदर्शिक अशुद्ध (अपवित्र) नहीं है । ऐसी अवस्था में बतलाओ ! तुम मुझ में क्यों, और कैसे प्रविष्ट हुए ? ॥१५॥

हे राक्षस ! मैं मेरे राष्ट्र के मनस्वीशील विद्वानों को, प्रसादानुभवपरायण वृद्धों को, एवं वानप्रस्थी तपस्वियों को कभी भी उपेक्षित नहीं मानता । राष्ट्र को मेरे जनपद रहते किसी का कोई किसी प्रकार की चिन्ता-उद्विग्नता का अनुगमन नहीं करना पड़ता । ऐसी स्थिति में बतलाओ ! तुम मुझ में क्यों और कैसे प्रविष्ट हुए ? । क्योंकि जिस राष्ट्र में तत्त्वरहस्य-वेत्ता विद्वानों, अनुभव की आधार भूमि वृद्धों, दम-शम-परायण-तपस्वियों एवं सतत ज्ञान-निष्ठ संन्यासियों का मान-सम्मान हो वहाँ का राष्ट्रप्रहरी इन प्रधानों के (परामर्शों के) बल पर सदा जागरूक बना रहता हो वहाँ-उस राष्ट्रप्रासाद में राक्षसों का प्रवेश सम्भव ही कैसे हो सकता है ? ॥१६॥

हे राक्षसराज ! स्वसत्स्वरूप से भलीभाँति परिचित शम-दम-परायण-कर्म-धर्म-रहस्यवेत्ता सम्पूर्ण राष्ट्र का वास्तविक अधिपति ऐसा बुद्धिमान् ब्राह्मण-जनपदक व्यक्ति मेरे राष्ट्र का पुरोहित (प्रधान मन्त्री) है, तो बतलाओ ! इस स्थिति में राष्ट्र में राक्षसों का प्रवेश कैसे सम्भव है ? ॥१७।

हे राक्षसेन्द्र ! मैं दानप्रक्रिया के समर्पण-द्वारा ही आचार्यों-विद्वानों से विद्या प्राप्त करने की कामना करता रहता हूँ । मैं सर्वदा सत्य-धर्म के द्वारा ही प्रजा धर्म के संग्रह में प्रवृत्त रहता हूँ । मैं वेदतत्त्वनिष्ठ-सदाचारपरायण ब्राह्मणों की रक्षा से सदा सुरक्षित रहता हूँ । मैं सदा सेवा-शुश्रूषा से अपने गुरुजनों के आशीर्वादों से समन्वित रहता हूँ । भला तुम्हीं विचार करो ! इन रक्षा-साधनों के विद्यमान रहते मुझे राक्षसों से क्या भय हो सकता है ? । विश्वास करो राक्षसराज ! कि स्वप्न में भी राक्षसों से भय नहीं है ।१८।

राक्षसराज ! तुम्हें यह नहीं भुला देना चाहिए कि (धर्मनिष्ठा के अखण्ड प्रभाव के प्रभाव से) मेरे राष्ट्र में एक भी विधवा नहीं है । एक भी ब्राह्मण

आहिताग्नि नहीं है । एक भी यूतम्मत्नी (कुमारी–) नहीं है । एक भी चोर न
है । कोई भी वैयक्तिक धमाभ्यासी (स्वयं भक्ष न कर केवल तृप्ति के लिए
रखने वाला) नहीं है । निष्कर्षतः मेरे राष्ट्र में एक भी व्यक्ति पापकर्मा
अकल्कर्मा–दुराचारी नहीं है । यही कारण है कि मुझे राक्षसों से कोई भी भ
नहीं है ॥१६॥

देख रहे हो राक्षसराज ! मेरे इस भौतिक शरीर का तो बाल तक बिगड़ा भी
प्रदेश भयत नहीं है । आत्मविजेता के आक्रमण से राष्ट्र के संरक्षण में
धर्मार्थ युद्ध करते रहने से मेरा स्वर्णशरीर क्षत–विक्षत हो रहा है । ऐसी स्थिति
में बतलाओ ! तुम मुझ में क्यों प्रविष्ट हुए ! ॥२ ॥

हे राक्षस ! राष्ट्र के इस–इस गोवंश स्वरूप–(स्वरूप) आत्मवंश, ए
वेदविहित–धर्मपरम्परा, इन तीनों धन धन–विनाशक–साधनों के मार्ग से
तथा स्वरूप मेरे राष्ट्र का मानवधर्म स्वात्मसमर्पण का ही अनुगामी बना रह
है । ऐसी स्थिति में तुम कैसे मेरे राष्ट्र में प्रविष्ट हुए ! ॥२१॥

(कैकयराज (अश्वपति-महाराज) के राष्ट्र की तपोधर्मनिष्ठा धर्मनिष्ठा
श्री-समृद्धि के स्वरूप वर्णन से प्रभावित होते हुए कैकय की परीक्षामात्र के लिए
कैकय–शरीर में प्रविष्ट–)—राक्षसराज कहने लगे कि—

हे कैकयराज ! क्योंकि आप सदा सभी अवस्थाओं में धर्म को ही अपना
बनाए रहते हैं अतएव स्वकुशल स्वस्थान में पधारिए । हे राजन् ! आप भी स्व
स्वस्थि हों । मैं भी इस शरीर से जा रहा हूँ । जो स्वयं गौ ब्राह्मणों से रक्षित–सुरक्षित
हैं, जिस रक्षा से रक्षित (बना रहता हुआ) जो प्रजा को (सर्वात्मना) सुरक्षित
रख रहे हैं हे कैकयराज ! उन्हें राक्षसों से क्यों भय है ! । उन्हें तो प्रकरण-रावणादि
भी आतुर नहीं बना सकता । जिनके अग्रगामी (पुरोहित–मन्त्री) ब्राह्मण हों,
जिनका ब्रह्मभाव प्रधान बल ब्रह्मनिष्ठा हो अतिथि जिन से सदा सम्मानित होते
रहते हों, एवं प्रजा जिनमें अनुरक्त हो हे कैकयराज ! ऐसे आप सदृश राजा
तो इस इहलोक में ही स्वर्ग-सदृश विजय प्राप्त कर लेते हैं ॥२२ २३,२४ ॥

[इसप्रकार भारतीय राष्ट्र-कामनाओं से अनुप्राणित कैकयराज महाराज अश्व- पति परीआर्य सत्यप्रविष्ट राष्ट्रराज के उक्त उद्बोधनात्मक विश्लेषण का भारतीय भौतिक राष्ट्रवैभव का आमूलचूड़ उपख्यान करते हुए समाप्त भारतीय राष्ट्रवैभव की एकमात्र मुख्य-आधार-भूता वेदनिष्ठा की ओर धर्म- युधिष्ठिर का ध्यान आकर्षित करते हुए] महात्मा भीष्म कहने लगे कि— हे युधिष्ठिर! इसलिए तुम्हारा यह मुख्य एवं प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिए तुम सर्वात्मना राष्ट्र के वेदतत्त्वनिष्ठ-ब्रह्मर्षि-ब्राह्मण-वर्ग के संरक्षण में तत्परता-श्रद्धापूर्वक सदा लगे रहो। क्योंकि शासनव्यवस्थात्मक संरक्षण से सुरक्षित रह कर ही वे तत्त्वज्ञ ब्राह्मण राष्ट्र की रक्षा किया करते हैं। युधिष्ठिर! यह तुम्हारे लिए सर्वथा संस्मरणीय एवं अविस्मरणीय है कि इन वेदनिष्ठ ब्राह्मणों के आशीर्वाद से ही राष्ट्र का अभ्युदय-निःश्रेयस सुरक्षित बना रहता है।।२५॥ अतएव राष्ट्रपति शासक का यह आवश्यक-अनिवार्य कर्त्तव्य होना चाहिए अपने अन्यान्य राष्ट्रीय कर्त्तव्य-कर्मों के सम्पादन में यह विशेष-रूप से ध्यानपूर्वक उन ब्रह्मर्षि-ब्राह्मणों को स्वकर्त्तव्य-निष्ठात्मिका वेदाध्ययनस्वाध्याय- परम्परा की ओर बलपूर्वक नियम से प्रतिष्ठित बनाए रहे। क्योंकि ऐसे वेदनिष्ठ ब्राह्मणों के अनुग्रह पर ही इसका राष्ट्रवैभव प्रतिष्ठित बना रहता है।।२६॥

—महाभारत-शान्तिपर्व-रा ७७ अध्याय।

अन्त में

मेधा श्लोकः कम्पितोऽयं यदासीत्-
इन्द्रः स्वर्गे पूर्वकाले तदासीत्।
आसन्नस्मिन्-भारते तर्हि विप्राः-
शौर्य्य-लावण्य-सिद्धयस्त्वानपायाः ॥१॥
प्रक्षीणैर्य्यपरिशुद्धि हेतवः-
सर्प्य-सोम-रस-यज्ञ-धेनवः।
क्लेशसिन्धु-तरणाय सेतवः—
संस्था अय विनिर्मिते नवः ॥२॥

क्षत्रिया य इह सोम-सर्य्यजा —
ब्राह्मणा य इह धेनुपालका —
विड्व्रजा य इह धेनुपालका-
स्तेषु सन्ति विजया -धियः-भियः ॥३॥

नाकस्थविष्णो परिवस्तु वेदद्दग्
व्यासाद् उ‍ैजे सञ्चरति ध्रुवं ध्रुवः ।
ध्रुवे स्वत क्वापि पुरा युगे स हि-
प्राड्मेरुस्वस्वस्तिस्गोर्‌मिजित्य भूरवत् ॥४॥

प्राड्मेरुस्थे हंसपृष्ठेऽभिजिद्भ्रमे-
ब्रह्मण्यासीत् स ध्रुवो यत्र काले ।
ब्रह्मादिष्टो वेदधर्म्मस्तदासीत्-
सर्वग्रीवो हयुगव मोक्षवश ॥५॥

सर्वे वासीन्द्भारतेऽपि सर्य्यो-
विज्ञानेनोच्छ्रापयन् भारतीयान् ।
ध्वस्तं यातो भारतस्यैव सूर्य्य -
विस्तरयन्स्याम्यांस्तेन युद्धप पक्षरास् ॥६॥

प्राड् मेरुस्वस्वस्तिस्मेप दिग्गो—
घरस्य स्वस्वस्तिरमर्वरस्य ।
गतो ध्रुवः क्वापि यदधर्म्म —
विपर्य्ययणाय विपर्य्ययस्य ॥७॥

ताराश्शादपि फल्ग ध्रुव एप दृष्टे—
वेनाभिजित्परिगत स हि वैदिकानाम् ।
भागुभर्ति बहु प्रकार स चायुर्नर्पां—
वेदद्रिपां सततमुन्नतिमातनोति ॥८॥
कालेन कन च परिक्रममाण एप—
प्राचीमुपेत्य पुनरेप्यति दक्षिणाशाम् ।
येन ध्रुवं ध्रुव इहाभिजिति प्रपन्नो—
भूयः करिष्यति स भारतवर्म्मवृद्धिम् ॥९॥

यह उद्बोधनात्मक पद्यों का अर्थ रचा है। पुरातन वेदयुगात्मक वैदिक-में जब कि इसी भूमण्डल पर प्राकृतिक आधिदैविक नियम-विज्ञान-व्यवस्था [illegible] वि-अग्नि-वायु-इन्द्रादि भौम-आन्तरिक्ष्य व्यवस्थापक थे उस युग मरावती पुरी की 'सुधर्म्मा' सभा के अधिपति 'वैकुण्ठ' नामक देवेन्द्र के [illegible] में भारतवर्ष में वेदविद्या प्रचयक पौरुष एवं प्रभूत अर्थसम्पत्ति [illegible] विराजित थी। इनके अतिरिक्त अणिमादि देवसिद्धियाँ भी उस युग में प से विद्यमान थी ॥ १ ॥

[illegible] के संस्थापक विज्ञानात्मक 'परमाणुरेन' नामक सूक्ष्म क्षेमरस तथा [illegible] ([illegible]) नामक गौरव-उस युग के महान् आविष्कार थे। प्राग् पश्च अमरपुरी में निवास करने वाले भगवान् भौम ब्रह्मा ने [illegible]-[illegible] उपाकल्पित दिव्य आविष्कारों से लोकोत्तर अभ्युदय व्यवस्थित किया [illegible] देवयुग में ॥ २ ॥

गौरवशाली क्षत्रिय यहाँ चन्द्र-सूर्य-अग्निवंशी थे। वेदनिष्ठ ब्राह्मण यहाँ [illegible] करते हुए कल्पवीक्षरूप [illegible] से पूत बने हुए थे। अर्थसमर्थक [illegible] वैश्यमहासमाज यहाँ कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य-कर्म्मों में निरत थे। वो इन तीनों शक्तियों से भारतराष्ट्र विद्या विजय-लक्ष्मी इन तीनों राष्ट्-[illegible] से समन्वित बना हुआ था देवयुग में ॥ ३ ॥

निविष्णपदतृतीय-पृष्ठीकेन्द्रात्मक उत्तर ध्रुव मध्यन्दिनीय-पूर्व ? महात्मक पार्श्व नाकस्थ (स्वर्गस्थ) विष्णु के चारों ओर २४ मात्रों के आवर्त से ध्रुव का परिभ्रमणवाक् है । उस युग में यह ध्रुवबिन्दु उस 'अभिजित' नामक नक्षत्र से समन्वित था जिस नाक्षत्रिक अभिजित् के वेदमार्ग से भारतवर्ष में वेद विकसित हुआ करती है ॥ ४ ॥

अवश्य ही अभिजित्पलक्षित ध्रुवकाल में सौम्य ब्रह्मा के द्वारा निर्दिष्ट धर्म सर्वात्मना। ध्रुवयुग या उस वेदयुग में, जो काल आज से अनुमानतः हजार वर्ष पूर्व माना जा सकता है ॥ ५ ॥

अवश्य ही उसी अभिजित्युग में 'विज्ञानभवन' नामक 'सूर्यभवन' में अन्वेषण करने वाले वैज्ञानिक महर्षियों के तत्त्वान्वेषण-क्रम से समुद्भूत वि तत्त्वों ने भारत राष्ट्र को समृद्धि की चरम दशा में ला खड़ा किया था । कालान्तर में अब का सम्बन्ध ध्रुवपरिभ्रमण के कारण वेदमार्गात्मक अभिजित् से पृथक हो गया । परिणामस्वरूप अस्त हो गया वह वेदसूर्यात्मक भारतभाग्यसूर्य । समुद्र में निमग्न हो गए भारतीय एवं अज्ञानान्धकार से अभिभूत कर दिया सर्वात्मना ॥ ६ ॥

तदवस्था ही मारुमेरु (पामीर) से समन्वित 'स्वस्तिक' (केन्द्र) से वि एवं उत्तरसमुद्रानुगत स्वस्तिक से समन्वित हो जाने वाले ध्रुव से आज वेद अभिभूत हो गया । विपर्ययस्थ ध्रुव आज विपर्ययवश से ही भारतराष्ट्र के पतन का कारण प्रमाणित हो गया ॥ ७ ॥

यह सत्य है कि खगोलीय नाक्षत्रिक ध्रुवादि परिवर्तनों के अनुपात राष्ट्रों की स्थितियों में यथायथ परिवर्तन हुआ करते हैं । जिस ध्रुव ने कभी काल में भारतीय वेदनिष्ठ मानवों को अभ्युदय से समन्वित किया था आज वि पथानुगामी बनता हुआ वही ध्रुव वेदनिष्ठों को लौकिक मनुष्यों की उपेक्षा रहा है ॥ ८ ॥

किन्तु यह सर्वथा सर्वात्मना निश्चयपूर्ण है कि, अब ध्रुव १२॥ हजार वर्ष बाद पूर्व-बिन्दु का अनुगामी बनने का

है भारतीय वेदधर्म पुनः सम्प्रतिपथ का अनुगामी बनने वाला है निश्चयेन बनने वाला है ॥ ९ ॥

क्योंकि कालचक्रानुबन्धी इस रहस्य से सभी महाशय सुपरिचित हैं कि—

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा ॥

[अर्थात् परिवर्तन-परिभ्रमणशील स्वभावात्मक कालचक्र के अनुपात से युग-युग के अन्त में लुप्त होते रहने वाले शास्त्र-पुराणेतिहास-वेदशास्त्र को महर्षिगण अपनी तपोनिष्ठा से ईश्वरीय प्रेरणा के द्वारा पुनः पुनः प्राप्त करते रहते हैं]।

अन्त में भारतवर्ष की इसी मङ्गल-कामना के साथ वेद का यह संक्षिप्त-स्वरूप-परिचय ('वेद का स्वरूप परिचय' नाम से) उपरत हो रहा है—

दातारो नोऽभि वर्द्धन्ताम् ।
वेदा सन्तति-रेव च ।
श्रद्धा च मा नो व्यगमत् ।
बहु देयं च नोऽस्तु ।
अन्नञ्च नो बहु भवेत् ।
अतिथींश्च लभेमहि ।
याचितारश्च न सन्तु ।
मा च याचि म कञ्चन ।

अर्थात्—हमारे राष्ट्र में 'दाता' मानवों की अभिवृद्धि हो।
हमारे राष्ट्र में वेदतत्त्व तथा तदनुगत सुसन्तति अभिव्यक्त हो।
हमारे राष्ट्रीय जन-मानस से श्रद्धा कभी पलायित न हो।
हमारे राष्ट्रीय-कोष में देने के लिए प्रभूत सम्पत्तियाँ सुरक्षित रहें।
हमारे राष्ट्र में प्रचुरमात्रा में अन्नसम्पत्ति सुरक्षित रहे।

त्रिविष्टप्तृतीय-पृथ्वीनेमात्मक उत्तर ध्रुव प्रजापतीय-पूर्व' नामक नाकस्थ (स्वर्गस्थ) विष्णु के चारों ओर २४ अंशों के व्यासार्ध से घूमा करता परिभ्रममाण है। उस युग में यह ध्रुवबिन्दु उस 'अभिजित्' नामक नक्षत्र से समन्वित था जिस नाक्षत्रिक अभिजित् के वेदमाप से भारतराष्ट्र में वेद विकसित हुआ करती है ॥ ४ ॥

अवश्य ही अभिजिदुपलक्षित ध्रुवकाल में सौम्य ब्रह्मा के द्वारा निर्मित वर्ग सर्वात्मना प्रस्फुट था उस देवयुग में, जो काल भाव से अनुमानतः हजार वर्ष पूर्व माना जा सकता है ॥ ५ ॥

अवश्य ही उसी अभिजिद्युग में 'विज्ञानभवन' नामक 'सूर्यभवन' में अन्वेषण करने वाले वैज्ञानिक महर्षियों के तत्त्वान्वेषण-क्रम से समुद्भूत वेद तत्त्वों ने भारत-राष्ट्र को समृद्धि की चरम दशा में ला खड़ा किया था। अब में ध्रुव का सम्बन्ध ध्रुवपरिभ्रमण के कारण वेदप्राणात्मक अभिजित् से छूट गया। परिणामस्वरूप अस्त हो गया वह वेदसूर्यात्मक भारतमान्यसूर्य। समुद्र में निमग्न हो गए भारतीय, एवं अज्ञानान्धकार ने अभिभूत कर लिया सर्वात्मना ॥ ६ ॥

सचमुच ही माहमेर (पामीर) से समन्वित स्वस्तिक' (केन्द्र) से एवं उत्तरसमुद्रानुगत नरस्वस्तिक से समन्वित हो जाने वाले ध्रुव से आज वेद अभिभूत हो गया। विपर्यस्त ध्रुव आज विपर्ययभाव से ही भारतराष्ट्र के पतन का कारण प्रमाणित हो गया ॥ ७ ॥

यह तथ्य है कि खगोलीय नाक्षत्रिक ध्रुवादि परिवर्तनों के अनुपात राष्ट्रों की स्थितियों में उत्तरोत्तर परिवर्तन हुआ करते हैं। जिस ध्रुव ने अभि काल में भारतीय वेदनिष्ठ मानवों को अभ्युदय से समन्वित किया था आज पथानुगामी बनता हुआ वही ध्रुव वेदविरोधी लौकिक मनुष्यों को उन्नत रहा है ॥ ८ ॥

किन्तु यह सर्वथा सर्वात्मना विश्वसनीय है कि, अब ध्रुव १२॥ हजार वर्ष पूर्व-बिन्दु का अनुगामी बनने जा रहा है। अब विश्ववेद——आदि

उक्त नियम-विधि-विधानों के द्वारा हमारा राष्ट्र
'सुमहाशक्ति' रूप से सार्वास्तित्व' सिद्धान्त का
निर्विरोध अनुगमन करता रहे।
(यथा च श्रुतस्मृति)

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
—मनु

अर्थात्—इस भारतराष्ट्र में उत्पन्न होने वाले वेदतत्त्वनिष्ठ-ज्ञानविज्ञान-सम्पन्न अग्रजन्मा ब्राह्मण से सम्पूर्ण विश्व के मानव देश-काल-द्रव्य श्रद्धा-सामर्थ्य-आदि के अनुपात से अपने अपने आचार की शिक्षा ग्रहण करते रहें।

सर्वे भवन्तु सुखिनः। सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु। मा कश्चिद्-दुःखभाग्भवेत्॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः—
स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः—
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
—यजुःसंहिता
ओमित्यवत्

——:——

हमारा राष्ट्र सदा सम्मानित प्रतिनिधि प्राप्त करता रहे।
हमारे राष्ट्र से सभी इतर राष्ट्र माँगते रहें!
हमारा राष्ट्र कदापि किसी से कुछ भी याचना न करे।

सङ्गच्छध्वं—सं वदध्वं—सं वो मनांसि जानताम् ॥
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते ॥१॥
समानो मन्त्रः—समितिः समानी—समानं मनः—सहचित्तमेषाम् ॥
समानमन्त्रमभिमन्त्रये वः—समानेन वो हविषा जुहोमि ॥२॥
समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनः, यथा वः सुसहासति ॥३॥

— ऋक्संहिता १०।१९१ सूक्त।

अर्थात्—हमारे राष्ट्र का गमनागमन एक हो।— (सङ्गच्छध्वम्)।
हमारे राष्ट्र की भाषा एक हो ।——(संवदध्वम्)।
हमारे राष्ट्र के संकल्प एक हों ।——(सं वो मनांसि जानताम्)।
हमारे राष्ट्र की मन्त्रणाशैली एक हो।—(समानो मन्त्रः)।
हमारे राष्ट्र की विधान-समिति एक हो।—(समितिः समानी)।
हमारे राष्ट्र के मन्तव्य एक हों ।—(समानं मनः)।
हमारे राष्ट्र की स्थिर प्रज्ञा एक हो ।—(सह चित्तमेषाम्)।
हमारे राष्ट्र की गुप्तमन्त्रणा एक हो। (समानमन्त्रमभिमन्त्रये वः)।
हमारे राष्ट्र की आर्थिक-हवि-व्यवस्था—
समान हो।—(समानेन वो हविषा जुहोमि)।
हमारे राष्ट्र का आभ्यन्तर-निर्णय—
एक हो।—(समानी व आकूतिः)।
हमारे राष्ट्र का हितचिन्तन एक हो।—(समाना हृदयानि वः)।
हमारे राष्ट्र का अन्तर्जगत् अभिन्न हो।—(समानमस्तु वो मनः) —

श्री

राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान जयपुर के तत्त्वावधान से अनुप्राणित
गम्य वैदिक-साहित्य की ज्ञानविज्ञानपरिपूर्ण परिभाषाओं से समन्वित
राष्ट्रभाषा हिन्दी में उपनिबद्ध

प्रकाशित-ग्रन्थों की सूची

[निष्णात–मोतीलालशर्म्मा–भारद्वाजः]

ग्रन्थनाम	पृष्ठसंख्या	मूल्य
—शतपथब्राह्मण हिन्दीविज्ञानभाष्य–प्रथमवर्ष●	४	१)
— —द्वितीयवर्ष●	८	१)
— ,, —तृतीयवर्ष●	४५	१)
— ,, —चतुर्थवर्ष	८०	१८)
— ,, —पञ्चमवर्ष	१५	७)
—शतपथभाष्य–त्रैवार्षिकी विषयसूची ●	१०	२)
—ईशोपनिषत् हिन्दी–विज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड (१)	५	१२)
— द्वितीयखण्ड (२)	५	१२)
—माण्डूक्योपनिषत् हिन्दी–विज्ञानभाष्य ●	९	१)
—गीताविज्ञानभाष्यभूमिका–बहिरङ्गपरीक्षा	५	११)
— ,, —आत्मपरीक्षा	५	११)
— ,, —ब्रह्मकर्मपरीक्षा●	६	१५)
— ,, —कर्मयोगपरीक्षा●	५	१५)
,, —बुद्धियोगपरीक्षा–पूर्वखण्ड	७	१)

परिसमाप्त हैं। पुनः प्रकाशित होने पर ही वे उपलब्ध हो सकेंगे।

श्रीः

'वेद का स्वरूपविचार'

नामक

(ज्ञानसत्रानुबन्धी)

वक्तव्य—उपरत